श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला— ग्रंथांक—१५

चिन्तन : मनन : अनुशीलन

(१)

श्रद्धेय आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा.

के

प्रवचनों से संकलित अंश

संपादक

देवकुमार जैन

सिद्धान्ताचार्य, दर्शनशास्त्री, साहित्यरत्न

श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला, बीकानेर

(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)

प्रकाशक :
मंत्री-श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
रांगड़ी मोहल्ला बीकानेर (राजस्थान)

प्रथम-संस्करण १९७०

मूल्य : एक रुपया

मुद्रक :
जैन आर्ट प्रेस
(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)
रांगड़ी मोहल्ला, बीकानेर

प्रारम्भिक

मानवीय सत्य एक ही है— चाहे वह व्यक्ति के रूप मे हो और चाहे समाज के रूप मे हो। साथ ही यह भी ध्यान मे रखना होगा कि जब तक समाज का विकास नही होगा, तब तक व्यक्ति का विकास नही और जब तक व्यक्ति का विकास नही होगा, तब तक समाज का भी विकास नही हो सकता है—दोनो अन्योन्याश्रित है। अतः व्यक्ति के भीतर से समाज बोलता है और समाज की पृष्ठभूमि मे व्यक्ति दिखता है।

लेकिन विकास की प्रक्रिया बड़ी उलझन भरी है। विज्ञान ने मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये अपरिमित साधन प्रदान किये है, उतना ही मनुष्य अपनी विचारपरक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये प्रयत्न करने से दूर हो गया है। इन्द्रियपरक जीवनदर्शन मनुष्य को स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाने के लिये प्रेरित करता रहता है। परिणामत. हिसा, अविश्वास, सदेह और कटुता का वातावरण पैदा हुआ। यदि उसके अवश्यभावी परिणाम— सर्वनाश से मानव समाज को त्राण पाना है तो आस्था के पतवार के सिवाय डूबती नौका को बचाने का और कोई दूसरा साधन नही दिखता है।

वैज्ञानिक युग मे जिस तीव्रता से भौतिक उन्नति हुई है, शायद उससे भी अधिक तीव्रगति से आध्यात्मिक ह्रास हुआ है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसके मूल्यों की उपेक्षा ने एकमात्र अपना आधिपत्य जमा लिया है। जीवन से वह प्रकाश ही लुप्त

हो गया है, जिसके बिना हम सब अन्धेरे में भटक रहे हैं। आत्म-विश्वास को व्यक्ति खो बैठा है ।

आत्मविश्वास को खो देना मनुष्य की सबसे बडी कायरता है, पुरुषार्थ के लिये कलंक है । आध्यात्मिकता का निषेध करना जीवन से पलायन है । इसीलिये जीवन-जौहरियो ने जीवन के कोने-कोने को परखा है और जनसाधारण को दिशाबोध कराने के लिये सहज ज्ञानप्रसूत अन्तर्प्रज्ञा से प्राप्त अनुभवों को सकेत रूप मे व्यक्त किया है ।

प्रस्तुत सकलन मे पूज्य जवाहराचार्य के चिन्तन की कतिपय अनुभूतियो को प्रस्तुत कर रहे है । पूज्य आचार्य श्रीजी की वाणी प्रतिपाद्य विषय को साक्षात मूर्तिमान बनाकर श्रोताओ को एक दिव्य भावालोक मे विचरण कराते हुए विलक्षण आनन्द का अनुभव करा देती थी । नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मानवीय मनोवृत्तियो का परिष्कार करने और स्वाभिमानी, निर्भय बनाने के मूल्यो से अनुप्राणित थी ।

अत. उन मूल्यों के प्रति उनकी जैसी निष्ठा का सौन्दर्य-समन्वित तेज हमारे जीवन मे प्रगट होना और आत्मविश्वास की पुन. प्रतिष्ठा होकर आध्यात्मिक, सास्कृतिक परम्परा का महत्व सस्थापित करना ही इस प्रकाशन का उद्देश्य है ।

—संपादक

मानवीय जीवन : धर्म की आवश्यकता

आज कुछ लोगों को धर्म अनावश्यक एवं भाररूप प्रतीत होने लगा है। किन्तु यह निस्सदेह कहा जा सकता है कि उन्होंने धर्म के ठीक-ठीक स्वरूप को समझा नही है। वास्तव में धर्म के बिना जीवन भी नहीं टिक सकता। आज के युवक सुधार करना चाहते है, पर धर्म की सहायता के बिना सुधार होना संभव नहीं है। प्रत्येक क्षेत्र में धर्म की आवश्यकता है।

आज धर्म को भाररूप मानने का एक कारण यह भी है कि लोग धर्म का फल रुपये की भांति तत्काल और प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं। वह यह दलील देते हैं कि धर्म का फल यदि परलोक में मिलता है तो उससे हमें क्या लाभ? यहां जैसे एक रुपये का सवा रुपया किया जा सकता है, और उससे आनन्दोपभोग किया जा सकता है, इसी प्रकार का लाभ यदि धर्म से भी मिले तो उसे लाभ कहना चाहिए अन्यथा वह निरा भार ही है। इस प्रकार धर्म को लोग भारस्वरूप समझते हैं, किन्तु यह विचारने का कष्ट नही उठाते कि जीवन में धर्म का उपक्रम किए बिना तो मनुष्य का जीवन ही सस्कारहीन बन जायगा। किसी मनुष्य से शरीर पर कपास लपेटने के लिए कहा जाय तो वह उसे स्वीकार नही करेगा किन्तु उसी कपास

का संस्कार उपक्रम कर दिया जाय---अर्थात् कपास से रूई ओट कर, सूत बनाकर, कपड़ा बना दिया जाय और उसे सुन्दर रूप में सिला दिया जाय तो वही कपास शरीर पर धारण किया जा सकता है। इसी प्रकार बालक का जन्म होने पर संस्कार उपक्रम न किया जाय तो उसका जीवन कच्चे कपास की तरह असंस्कारी ही बना रहेगा। ज्ञानी-जन कहते हैं कि राग के समान कोई जुल्मी नहीं है। कितनेक लोग, माता-पिता कहलाकर फूले नही समाते, किन्तु राग के वश होकर अपने बालकों को ऐसे सस्कार-हीन कर देते हैं कि आगे चलकर वे ही बालक भारस्वरूप जान पड़ने लगते हैं। कच्चे कपास की तो थोड़ी बहुत क़ीमत उपजती है किन्तु संस्कारहीन को तो ससार में कोई टके सेर भी नही पूछता। इस प्रकार धर्म का उपक्रम किए बिना जीवन का सुधार नही हो सकता। धर्म मानव-जीवन का सार है।

धर्मम्-चर

●

कुछ लोग सोचते है कि हमने पुण्य किया है। उसका फल भोग रहे है। अब उद्योग करने की आवश्यकता ही क्या है ? उनके कथन का आशय यह है कि जो परिश्रम न करे वह धर्मात्मा है और जो परिश्रम करके खाता है

वह पापी है। यह समझ की बड़ी भूल है। अब समय पलट रहा है। समय की प्रगति देखो और अपने धर्म का भी विचार करो। आपको सही रास्ता मिल जायगा।

धर्म का संस्कार धर्मस्थान से ऐसा ग्रहण करो कि वह जीवन व्यवहार में काम आवे। कदाचित् आप सोचते हों कि व्यवहार में धर्म का अनुसरण करने से काम नही चलेगा, व्यवहार चौपट हो जायगा तो आप अपने हृदय से यह भ्रम दूर कर दीजिये। धर्म का व्यावहारिक अनुसरण करने वाले कभी भूखों नही मरते।

बहुत लोग धर्म के सम्बन्ध में एक भ्रम में पड़े हैं। उनका यह अभिप्राय है कि धर्म व्यवहार की वस्तु नही है ? अगर धर्म व्यवहार में लाने की वस्तु न होती तो उसका इतना माहात्म्य ही न होता। प्राचीनकाल के अनेक चरित हमारे सामने है, जिनसे भलीभांति समझा जा सकता है कि लोक-व्यवहार में धर्म का आचरण करने वालों का व्यवहार कभी नहीं रुका है। धर्म न दिखावे की वस्तु है और न कीर्ति-उपार्जन का साधन है। यह बात दूसरी है कि धर्मात्मा की कीर्ति स्वतः संसार में फैल जाती है, पर धर्म का उद्देश्य कीर्ति उपार्जन करना नही है। धर्म तो आचरण की वस्तु है। धर्म-स्थान का जीवन और दुकान का जीवन अलग-अलग नही है। वह एक है, अविभक्त है। अतएव धर्मस्थान और दुकान के जीवन-व्यवहार में भी एकरूपता होनी चाहिये।

धर्म का आदर्श है......

●

तमाम धर्म मानवधर्म सीखने के साधन हैं। जो धर्म मानव के प्रति तिरस्कार उत्पन्न करता है, मनुष्य को मनुष्य से जुदा करना सिखलाता है, मानव को तुच्छ समझना सिखलाता है वह धर्म नही है। धर्म में ऐसी बातों का स्थान नही है।

मनुष्य धर्म का पालन करता है सो इसलिए नहीं कि वह अपने आपको ऊचा ठहराने की कोशिश करे, बल्कि इसलिए कि वह वास्तव में ऊंचा बने। धर्म-पालन का उद्देश्य वह उत्कृष्ट मनोदशा प्राप्त करना है, जिसमें विश्व-बन्धुत्व का भाव मुख्य होता है। 'मित्ती में सव्वभूएसु वेरं मज्झण केणई' अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति मेरा मैत्री-भाव—बन्धुभाव है, किसी के साथ मेरा वैर-विरोध नहीं है। जैसे सच्ची महत्ता सादी होती है उसी प्रकार यह महान् मानव धर्म भी सरल और सादा है। इसे एक ही वाक्य 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' में प्रकट किया जा सकता है।

तुम्हारे लिए जो अनिष्ट है वह दूसरे के लिए भी अनिष्ट है। अगर तुम सड़ा पानी नही पी सकते तो दूसरा मनुष्य भी उसे नही पी सकता। अगर तुम अपनी बीमारी में दूसरों की सहायता चाहते हो तो दूसरा भी यही चाहता है।

अगर मनुष्य इतना सीधा-सादा मानवधर्म समझले और अपने समस्त साधन इस धर्म का विकास करने के

लिए मान ले तो फिर धर्म संबन्धी अधिक ज्ञान इसी में से उसे मिल जायगा। धर्म सम्बन्धी विधि-विधान खोजने के लिए उसे इधर-उधर नहीं भटकना पड़ेगा। मानवधर्म इतना सादा है कि उसे घड़ी भर में सब सीख सकते हैं; फिर भी मानवधर्म में रहने वाली गहनता इतनी उदार और भव्य है कि वह जीवन भर की शुद्धि की मांग करती है। जीवन-धर्म का आदर्श विकारों को जीतना और विश्वबंधुता सीखना है।

धर्मश्रद्धा की वास्तविकता कहाँ है ?

●

आज धर्म के विषय में यही समझा जाता है कि जिससे अष्टसिद्धि और नवनिधि प्राप्त हो, वही धर्म है। अष्टसिद्धि और नवनिधि का मिलना ही धर्म का फल है। किन्तु शास्त्रकार जो बात बतलाते हैं, वह इससे विपरीत है।

अब आपको यह सोचना है कि आपको किस भावना से धर्म पर श्रद्धा रखना है ? अगर आपको अपना ही सुख-सांसारिक सुख चाहिये तो यह तो दुनिया में चला ही आ रहा है; मगर इस चाह में धर्मश्रद्धा नहीं है। अगर आप धर्मश्रद्धा उत्पन्न करना चाहते है और धर्म का वास्तविक स्वरूप जानना चाहते हैं तो आपको सदैव यह उच्च भावना

रखनी होगी कि मैं दूसरों को सुख देने में ही प्रयत्नशील रहूं ।

आज बहुत से लोग धर्म के फल के सम्बन्ध में गड़-बड़ में पड़े हुए है । सब लोगों ने समझ रक्खा है कि धर्म का फल इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति अर्थात् सांसारिक ऋद्धि-सिद्धि आदि मिलना है । पुत्रहीन को पुत्र की प्राप्ति हो, निर्धन को धन प्राप्त हो, इसी प्रकार जिसे जिस वस्तु की अभिलाषा है उसे वह प्राप्त हो जाय तो समझना चाहिये कि धर्म का फल मिल गया ! ऐसा होने पर ही धर्मश्रद्धा उत्पन्न हो सकती है । जैसे भोजन करने से तत्काल भूख मिट जाती है, पानी पीने से प्यास बुझ जाती है, उसी प्रकार धर्म से भी आवश्यकताओं की पूर्ति हो तभी धम पर श्रद्धा जाग सकती है ।

लेकिन धर्मश्रद्धा का वास्तविक फल क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने बतलाया है कि—'धर्मश्रद्धा का फल ससार के पदार्थो के प्रति अरुचि उत्पन्न होना है ।' धर्मश्रद्धा उत्पन्न होने पर सांसारिक पदार्थो के प्रति रही हुई रुचि हट जाती है—अरुचि उत्पन्न हो जाती है । इस स्थिति में ससार के भोगविलास एव भोगविलास के साधन सुखप्रद प्रतीत नही होते । लोग धर्मश्रद्धा के फल-स्वरूप मोह या विकार की आशा रखते हैं, परन्तु शास्त्र कहता है कि धर्मश्रद्धा का फल सांसारिक पदार्थो के प्रति अरुचि जगाना है । कहां तो सांसारिक पदार्थो के प्रति निर्ममत्व और कहां सांसारिक पदार्थो की चाह ! धर्म से इस प्रकार विपरीत फल की आशा रखना कहा तक

उचित है ?

आजकल धर्म की जो अवहेलना हो रही है, उसका एक कारण धर्म के स्वरूप को न समझना है। लोगों को यह भी पता नहीं कि धर्म किस कार्य का कारण है ? धर्म सम्बन्धी इस अज्ञान के कारण ही धर्म से विपरीत फल की आशा की जाती है। जब विपरीत फल मिलता नहीं तो धर्म के प्रति अरुचि पैदा होती है।

हमारे अन्तःकरण में धर्मश्रद्धा है या नहीं, इस बात की परीक्षा करने का 'थर्मामीटर' सातावेदनीय के सुखों के प्रति अरुचि उत्पन्न होना है। आप इस 'थर्मामीटर' द्वारा अपनी जांच कीजिए कि वास्तव में आप में धर्मश्रद्धा है या नहीं। अगर आप में धर्मश्रद्धा होगी तो सातावेदनीय-जन्य सुखों के प्रति आपको अरुचि अवश्य होगी।

धर्म की अवहेलना नहीं हो सकती

●

संसार में धर्म न होता, दुनिया में कितना भयंकर हत्याकांड मच रहा होता, यह कल्पना भी दुःखदायक प्रतीत होती है। मानव-संस्कृति के होने वाले इस विनाश को केवल धर्म ही रोक सकता है। धर्म के अमोघ अस्त्र द्वारा—अहिंसा द्वारा ही यह हिंसाकाण्ड अटकाया जा सकता है।

धर्म के अतिरिक्त एक भी ऐसा साधन दिखाई नहीं देता जो मानव-संस्कृति का सत्यानाश करने के लिए पूरे जोश के साथ बढ़े चले आने वाले विष के वेग को रोक सकता हो। जो धर्म आज दुःखरूप और जीवन के लिए अनावश्यक माना जाता है, वही धर्म वास्तव में सुखरूप और जीवन के लिए आवश्यक है। साथ ही जो विज्ञान आज सुखरूप और जीवन के लिए आवश्यक माना जाता है वही विज्ञान वास्तव में दुःखरूप और जीवन के लिए अनावश्यक है। यह सत्य आज नही तो निकट भविष्य में सिद्ध हुए बिना नही रहेगा। आज समझाने से भले ही समझ में न आवे, मगर समय आप ही समझा देगा।

आज जिस पाश्चात्य या पौर्वात्य देशों में विज्ञान का अधिक प्रचार है, वह देश क्या युद्ध के चक्कर में नही फंसे है ? इस कुत्सित लिप्सा के कारण ही मानव-सृष्टि के शीघ्र संहार की शोध आज विज्ञान कर रहा है। इस प्रकार विज्ञान ही मानव-समाज की संस्कृति का विनाश करने के लिए सबसे अधिक उत्तरदायी है।

धर्म-साधना निष्फल नहीं

●

मित्रो ! आप लोग धर्म का परित्याग कर अन्यत्र

न जावें। यदि किन्हीं कार्यों में रुकावट होती है तो होने दीजिए। वह रुकावट आपके पुण्य की न्यूनता से होगी, धर्म की आराधना से नहीं। अगर कोई बालक अपनी माता से अच्छा भक्ष्य पदार्थ समझ कर विष मांगता है और माता उसे नही देती तो उसके न देने में ही बालक का हित निहित है। ऐसी अवस्था में अगर वह बालक अपनी माता को त्याग देता है या उस पर अश्रद्धा करता है या उसे निर्दय कहता हैं तो वह भूल करता है। माता अश्रद्धा का भाव सहन कर लेगी, निर्दयता का लांछन स्वीकार कर लेगी, पर फिर भी बालक को विष खाने को नही देगी। इसी प्रकार संभव है कि जिस कार्य में तुम सफलता चाहते हो, उस कार्य की सफलता से तुम्हारा अहित होता हो और असफलता में ही तुम्हारा हित समाया हो। ऐसे कार्यों में रुकावट पड़ जाने में ही कल्याण है। ऐसी अवस्था में धर्म पर अश्रद्धा न करो। धर्म की इष्ट-प्रदता में सन्देह न करो। भरोसा रखो, तुम्हारी समस्त आशायें धर्म से ही पूरी होंगी और जो आशायें धर्म से पूरी न होंगी, वे किसी और से भी पूरी न हो सकेंगी।

धर्म अमोघ है। धर्म का फल कब और किस रूप में प्राप्त होता है, यह बात छद्मस्थ भले ही न जान पावे, फिर भी सर्वज्ञ की वाणी सत्य है। धर्म निष्फल नहीं है। इस प्रकार श्रद्धा रखते हुए धर्म की सेवा करोगे तो कल्याण होगा।

धर्म और धर्मभ्रम

●

अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म सदा मंगलमय है— कल्याणकारी है। जो लोग जीवन में धर्म की अनावश्यकता महसूस करते हैं, उन्होंने या तो धर्म का स्वरूप नहीं समझा है या धर्मभ्रम को ही धर्म समझ लिया है।

धर्म और धर्मभ्रम में आकाश-पाताल जितना अन्तर है। गधे को सिंह की चमड़ी पहना दी जाय तो गधा कुछ सिंह नहीं बन जाएगा। भले ही सिंह-वेशधारी गधा थोड़े समय के लिए अपने आपको सिंह के रूप में प्रकट करके खुश हो ले पर अन्त में तो गधा, गधा सिद्ध हुए बिना रहने का नहीं! इसी प्रकार धर्मभ्रम और धर्मान्धता को भले ही धर्म का चोगा पहना दिया जाय, लेकिन अन्त में धर्मभ्रम का क्षय और धर्म की जय हुए बिना नहीं रह सकती।

धर्म को धर्मभ्रम और धर्मभ्रम को धर्म मान लेने के कारण बड़ी गडबड़ी मची है। सुवर्णकार मिट्टी में मिले स्वर्ण को ताप, कष और छेद के द्वारा मिट्टी से अलग निकालता है, इसी प्रकार विवेकीजनों को चाहिए कि वे धर्मभ्रम की मिट्टी में मिले हुए धर्म-स्वर्ण को ताप, कष और छेद के द्वारा अलग कर डालें। यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं कि मिट्टी, मिट्टी है और सोना, सोना है। लेकिन मिट्टी में मिले सोने को सच्चा सुवर्णकार ही अलग कर सकता है। इसी प्रकार धर्म, धर्म है और धर्मभ्रम, धर्मभ्रम है। मगर धर्मभ्रम में मिले धर्म को शोधने

का कार्य सच्चे धर्मसंशोधक का है। धर्म जब धर्मभ्रम से पृथक् कर दिया जायेगा तभी वह अपने उज्ज्वल रूप में दिखलाई देगा और तभी उसकी सच्ची कीमत आंकी जा सकेगी।

जीवन में धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, यहां तक कि धर्म के बिना जीवन-व्यवहार भी नही चल सकता। जो लोग धर्म की आवश्यकता स्वीकार नही करते, उन्हे भी जीवन मे धर्म का आश्रय लेना ही पड़ता है, क्योंकि धर्म का आश्रय लिये बिना जीवन-व्यवहार निभ ही नहीं सकता है। उदाहरणार्थ—पांच और पांच दस होते हैं, यह सत्य है और सत्य धर्म है। जिन्हे धर्म आवश्यक नही मालूम होता उन्हें यह सत्य भी अस्वीकार करना होगा।

अहिंसा कायरों का धर्म नहीं

अत्याचार करना जैसे मानसिक दौर्बल्य है, वैसे ही कायरता धारण करके हृदय में जलते हुए, ऊपर से अत्याचार सहन कर लेना भी मानसिक दौर्बल्य है। परन्तु वास्तविक शांति धारण कर लेना यह मानसिक उच्चता और उन्नत धर्म है। जैसे, कोई दुराचारी मनुष्य, किसी धर्मशील स्त्री का शील हरण करता है और दूसरा उस

शरण आई हुई बहिन को, कायर बन कर शरण नहीं देता और भागता है, तो ये दोनों मानसिक दौर्बल्य के धारण करने वाले हैं। एक क्रूरता से और दूसरा कायरता से। आज यह बात दिखाई पड़ती है, कि बहुत से भाई कायरता को ही अहिंसा मान बैठे हैं। इसकी वजह से, कर्त्तव्य से पराङ्-मुख होकर अन्य समाज के सामने डरपोक से दिखाई देते हैं। यह उनके मानसिक दौर्बल्य का कारण है। वास्तविक अहिंसा, कायरों का धर्म नहीं, किन्तु सच्चे वीरों का है।

एक शक्ति अपनी विरोधी शक्ति का संहार किया करती है। लोग यह समझ बैठते है कि विरोधी शक्ति का नाश करना भी हिंसा है। वास्तव में आत्मा के आत्मिक शक्तियों के विरोधी का नाश करना हिसा नही हैं। अगर ऐसा होता तो अरिहत अर्थात् आत्मिक शत्रुओं को नाश करने वाले महापुरुष एवं भगवान् क्यों कहलाते ?

धर्म की निन्दा करानेवाले कौन ?

●

अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म सदा मंगलमय हैं—कल्याणकारी है। जो लोग जीवन में धर्म की अनावश्यकता महसूस करते हैं, उन्होंने या तो धर्म का स्वरूप नही समझा है या धर्मभ्रम को ही धर्म समझ लिया है।

धर्म और धर्मभ्रम में आकाश-पाताल जितना अन्तर है। गधे को सिंह की चमड़ी पहना दी जाय तो गधा सिंह नहीं बन जायगा। भले ही सिंह-वेषधारी गधा थोड़े समय के लिये अपने आपको सिंह के रूप में प्रकट करके खुश होले पर अन्त में तो गधा, गधा सिद्ध हुए बिना रहने का नहीं ! इसी प्रकार धर्मभ्रम और धर्मान्धता को भले ही धर्म का चोगा पहना दिया जाय, लेकिन अन्त में धर्मभ्रम का क्षय और धर्म की जय हुए बिना नही रह सकती।

जीवन में धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, यहां तक कि धर्म के बिना जीवन व्यवहार ही नही चल सकता। जो लोग धर्म की आवश्यकता स्वीकार नही करते, उन्हें भी जीवन मे धर्म का आश्रय लेना ही पड़ता है; क्योंकि धर्म का आश्रय लिये बिना जीवन-व्यवहार निभ ही नहीं सकता है।

धर्म का सम्बन्ध सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र के साथ है। जहां इनमें से एक भी नहीं है, वहाँ धर्मतत्त्व भी नही है। जहाँ यह रत्नत्रय है वहीं सच्चा धर्म है। धर्मभ्रम या धर्मान्धता तो स्पष्टतः धर्माभास है—अधर्म है। प्रजा को हैरान करना, परधन और परस्त्री का अपहरण करना तो साफ अधर्म है, फिर भले ही वह धर्म के नाम पर ही क्यों न प्रसिद्ध किया जाय।

धर्म तो इस विचार में है कि— मैं स्वयं तो असत्य बोलूंगा ही नहीं, अगर कोई दूसरा मुझसे असत्य बोलेगा तो भी मैं असत्य नही बोलूंगा। मैं स्वयं तो किसी चीज

का अपहरण करूंगा ही नहीं, अगर मेरी वस्तु का कोई अपहरण करेगा तो भी मै यह विचार तक नहीं करूंगा कि मैं उसकी किसी वस्तु का अपहरण करूं, उसका कुछ बिगाड़ करूं। मैं किसी पर क्रोध भी नही करूगा। मैं थप्पड़ का बदला थप्पड़ से नही, प्रेम से दूंगा। जिसके अन्तःकरण में धर्म का वास होगा, वह इस प्रकार का विचार करेगा। जो लोग धर्म के नाम पर थप्पड़ का बदला थप्पड़ से देते है अथवा परधन और परस्त्री के अपहरण की चिन्ता में दिनरात डूबे रहते हैं वही लोग धर्म की निन्दा कराते है।

धर्म वीरता से निभता है

●

भाइयो ! धर्म वीरता से निभता है। हमारे पूर्वज इस धर्म को मानते आये हैं या वंश-परम्परा से वन्दना-नमस्कार करते आये है, इसलिये हमें भी यह धर्म मानना पड़ेगा और वन्दना-नमस्कार करना पड़ेगा। इस प्रकार की लाचारी से अगर आप धर्म को मानते हैं तो इस भावना को मैं निर्बल भावना कहूंगा। निर्बल भावना एक प्रकार की दीनता है, लाचारी है और अशक्ति का चिह्न है। निर्बल भावना वाला पुरुष धर्म का पालन नही कर सकता। धर्म हृदय के प्रेम से पाला जाता है। सच्चा धर्म वही है जो अन्तर् से उद्भूत होता है। जिस बाह्य क्रिया के साथ

मन का मेल नहीं है, जो सिर्फ परम्परा का पालन करने के लिए की जाती है या प्रतिष्ठा के मोह से की जाती है, वह ठीक फल नहीं दे सकती। अतएव धर्म की आराधना अन्तःकरण से होनी चाहिए।

युगधर्म ही सब कुछ नहीं

साधारण जनता प्रवृत्ति के बहाव में बहती है। जिस समय, जिस चीज की विशेष आवश्यकता होती है, उस समय समाज के मुखिया उस चीज को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। सामयिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए ऐसा करना ही पड़ता है! पर यह भूल न जाना चाहिए कि समाज की आवश्यकताएँ किसी खास समय तक ही परिमित नहीं हैं। मानव-जीवन पानी का बुलबुला नहीं है कि उसका कुछ ही समय में अन्त आ जाय। मानव-जीवन सत्य है, इसलिए सनातन है। अमुक युग की अमुक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उत्पन्न की गई भावना में ही जीवन की सम्पूर्ण सार्थकता नहीं है। उसके अतिरिक्त बहुत कुछ शाश्वत तत्त्व है, जिसकी सिद्धि में जीवन की सर्वांगीण सफलता निहित है। अतएव ऐसे सर्वकालीन तत्त्वों का संरक्षण करना, उनकी व्याख्या करना भी आवश्यक है। उस ओर से सर्वथा उदासीन होकर कोई भी समाज पूर्ण

सिद्धि प्राप्त नही कर सकता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि युगधर्म ही सब कुछ नही है, वरन् शाश्वत धर्म भी है, जो जीवन को भूत और भविष्य के साथ संकलित करता है। युगधर्म का महत्त्व काल की मर्यादा में बंधा हुआ है पर शाश्वत धर्म सभी प्रकार की सामयिक सीमाओं से मुक्त है। मुनिजन अगर युगधर्म को गोण करके शाश्वत धर्म का मुख्य रूप से प्रचार करते हैं तो क्या इसी से उन्हें उपेक्षा का पात्र समझना चाहिये ? कदापि नही; क्योंकि वे जीवन के महत्तम आदर्श के सन्देशवाहक है और उस सन्देश को अपने जीवन में उतार कर उसे मूर्तिमान रूप प्रदान करते हैं।

श्रमण धर्म के लिये भाररूप

●

निर्ग्रन्थ-धर्म शूरों द्वारा पाला जा सकता है। इसे कायर लोग नही पाल सकते लेकिन बहुत-से कायर लोग, निर्ग्रन्थ-धर्म स्वीकार करके, घर-बार, कुटुम्ब, संसार आदि छोड़ भी देते है, संयति का वेश भी पहन लेते हैं, रजोहरण एवं मुख-वस्त्रिका आदि भी धारण कर लेते हैं और फिर कामना पूर्ण न होने पर साधुपने में दुःख पाते है।

कई लोग क्षणिक आवेश में सनाथ वनने की क्षणिक

भावना से प्रेरित होकर संयम ले लेने हैं। कई, संसार-व्यवहार का भार सहन न कर सकने के कारण, कमा कर खाने की अशक्तता के कारण संयम ले लेते हैं।

कई, साधुओं की प्रतिष्ठा देखकर वैसी ही प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए साधु-वेश पहन लेते हैं। इस प्रकार बहुत से कायर लोग भिन्न-भिन्न कारणों के संयम स्वीकार तो कर लेते हैं, लेकिन वास्तव में उन्हें सच्चा वैराग्य नहीं होता, आकांक्षा-रहित संयम लेने की भावना नहीं होती, सनाथ वनने के परिपक्व विचार नही होते, इसलिए संयम में दीक्षित होने के पश्चात् वे पश्चात्ताप करते हैं, संयम में कष्ट अनुभव करते हैं और कीचड़ में फंसे हुए हाथी के समान दुःखी रहते हैं। ऐसे लोग वीर नही, किन्तु कायर हैं।

एक बार ही निहार लो

●

साधना तुम्हें कठिन और दुसाध्य प्रतीत होगी। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि पहले-पहल जो कार्य दुःसाध्य प्रतीत होता है, वही कार्य सुदृढ मनोबल से सुसाध्य बन जाता है। दृढ मनो-भावना के साथ जुट जाने पर कठिनाइयाँ अपने आप हल होती जाती हैं और आत्मा के बढ़ते हुए वल के सामने उन्हे परास्त होना पड़ता है।

अतएव अपना ही कच्चा मत करो। कठिनाइयों के आने से पहले ही, उनकी कल्पना मात्र से भयभीत मत बनो। तुम्हारे भीतर जो शक्ति विद्यमान है वह साधारण नहीं है। उस शक्ति के सामने विश्व की शक्ति टिक नहीं सकती। मगर उसका उपयोग करोगे तभी उससे लाभ उठा सकोगे। इस समय अत्यन्त अनुकूल अवसर मिला है। इसे खोओ मत। इसका अधिक-से-अधिक सदुपयोग करके सदा के लिये सुखी बन लो। अपनी दृष्टि को बाहर की ओर से भीतर की ओर करो। अगर अन्तरात्मा की ओर एक दृष्टि से एक बार भी निहार लोगे तो अपने को कृतकृत्य मानने लगोगे। संसार नीरस दिखाई देगा और तब तुम्हारे अनन्त कल्याण का मार्ग तुम्हें स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगेगा।

लक्ष्यभ्रष्ट न होओ

●

जो साधु के आचार-विचार से विरुद्ध चलता है फिर भी साधु का वेष धारण किये रहता है, वह प्राणी पामर है। ऐसा मनुष्य इस लोक के सुखों से भी वचित रहता है और परलोक के सुखों से भी कोरा रह जाता है।

वह इस लोक के सुखों से वंचित यों रह जाता है कि लोकलज्जा के मारे उसे केशलोंच करना पड़ता है, नंगे

पैर पैदल चलना पड़ता है और भिक्षाटन आदि बाह्य क्रियाये साधुओं की ही तरह करनी पड़ती हैं। मतलब यह है कि साधु जिन कष्टों को सहन करते है, उन्हें उसे भी सहन करना पड़ता है। फिर भी उसका कष्ट सहना उत्तम अर्थ में नही लगता। वह जो कुछ करता है, जो कष्ट सहता है सो सिर्फ इसलिए कि लोग उसे साधु समझें। वह आडवर करता है और असलियत की उपेक्षा करता है। इस प्रकार वह ऐहलौकिक सुखों से भी वचित रहता है और पारलौकिक सुखों से तो वंचित है ही। वह न इधर का रहता है न उधर का रहता है। 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' की कहावत उस पर पूरी तरह घटती है। ऐसे व्यक्ति का इस लोक में भी कोई आदर नही करता और परलोक में तो उसे पूछेगा ही कौन ? वह जो कष्ट सहन करता है सो समभाव से नही करता। ऐसा मनुष्य अनाथ का अनाथ ही बना रह जाता है।

कायर संयम में भी सुख चाहते हैं

●

कायर लोग, संयम लेकर उसमें सांसारिक सुखों की इच्छा करते है। वे अच्छा भोजन, मान-प्रतिष्ठा, अच्छे-अच्छे वस्त्र आदि चाहते हैं और जब इनकी प्राप्ति नही होती, तब वे सयम में दुःख मानते हैं। यद्यपि संयम लेने

के समय सांसारिक सुखों को त्याग चुके है, लेकिन कायर लोग, संयम में सांसारिक सुख चाहते हैं, और उसे प्राप्त करने के सिए वे अपने सयम के ध्येय को भुला देते हैं। उन्हें यह ध्यान नही रहता कि हमारा ध्येय क्या है, हम किस भावना को लेकर उठे हैं और संयम लेने के समय हमारा उद्देश्य क्या था? वे लोग, एक ओर तो सांसारिक सुख भी भोगना चाहते हैं, और दूसरी ओर साधुपने की मान-प्रतिष्ठा भी। यानी यह भी चाहते हैं, कि हमें कोई असंयमी भी न कहे, किन्तु संयमी मान कर हमारी पूजा-प्रतिष्ठा करे और यह भी चाहते हैं, कि हमे संसार के समस्त सुख भी प्राप्त हों। इसके लिये वे प्रकट में तो साधु का वेश रखते है और परोक्ष में सांसारिक-सुख प्राप्त करने के उपाय करते रहते है तथा सांसारिक सुख न मिलने पर अपने आपको कष्ट में मानते हैं। यदि वे सासारिक सुख प्राप्त भी कर लेते है, तब भी उन्हे दुःख घेरे ही रहता है। उन्हे सदा यह भय बना रहता है कि हमारे इस असयमपूर्ण कुकृत्य का कही भण्डा न फूट जाये। भण्डा फूट जाने पर हम अपमानित हो जावेगे, इस आशंका से वे यह सोचते रहते है कि हमने संयम क्यों ले लिया? उनसे संयम का वेश भी त्यागते नही बनता। ऐसा करने में अपमान एव निन्दा का भय है। इस प्रकार के कायर लोग संयम को दुःख मानते है और संयम से पतित भी हो जाते हैं।

......पालन में प्रमाद मत करो !

●

यद्यपि कायर लोग, समितियां न पालने में पंच महाव्रत का भग नही समझते, लेकिन वास्तव में, पंच महाव्रत भंग हो जाते है, क्योंकि, पंच महाव्रत का सूक्ष्म रूप से पालन तभी सम्भव है, जब पांचों समिति का भली प्रकार पालन किया जावे । इस ओर गति करना, प्रमाद न करना प्रत्येक साधु का कर्त्तव्य है । अपने इस कर्त्तव्य को समझ कर, जो साधु सावधानी रखता है, उससे यदि कभी गल्ती हो भी जावे, तो वह पतित नही कहलाता । पतित तो तभी कहलाता है, जब जानबूझ कर उपेक्षा की जावे और जो गल्ती हुई है, उसे सुधारने की चेष्टा करने के बदले और बढने दे ।

हे मुनियो ! तुम्हारा पद, चक्रवर्ती राजाओं एवं देवताओं से भी बडा है । देवता लोग, चक्रवर्ती के सामने अपना मस्तक नही झुकाते, लेकिन तुम्हारे आगे अपना मस्तक झुकाते हैं । चक्रवर्ती राजा भी, तुम्हारे दर्शन को लालायित रहता है । ऐसे प्रतिष्ठित पद को पाकर भी, पांच समिति के पालन में सावधानी न रखने पर, तुम्हारी गणना, कायरों एव पतितों में होगी । इसके साथ ही, जिस उद्देश्य से तुमने घर-वार छोड़ा है, जिस ध्येय को लेकर सासारिक सुख त्याग, संयम में प्रवर्जित हुए हो, समिति-पालन में असावधानी रखने पर, उसकी भी पूर्ति नही होगी। तुम्हारे पद की प्रतिष्ठा, तुम्हारे ध्येय की पूर्ति, एवं गृह-संसार छोड़ने से लाभ, तभी है, जब तुम पंच महाव्रत के

साथ ही पंच-समिति के पालन में सावधानी रखो। यदि तुम से कोई गलती भी हो जावे, तो उसका प्रतिशोधन करो, लेकिन उसे बढ़ने मत दो। पहाड पर से एक पाव फिसला और दूसरे पांव से उसी समय सम्हल गया, तब तो गिरने से रुक जाता है, और यदि दूसरे पांव को भी ढील दे दी, तो लुढ़कता हुआ नीचे ही चला जाता है। इसी प्रकार, पाच समिति के पालन में कोई गलती हो जावे और उसी समय अपनी गलती को मान कर, भविष्य के लिए सम्हल जाओगे, तब तो तुम्हारी गणना कायरों में न होगी ! तुम दूसरी अनाथता में न पड़ोगे, अन्यथा, सनाथी मुनि के कथनानुसार तुम कायर एव अनाथ के अनाथ ही माने जाओगे।

काल वृथा मत खोओ !

●

आजकल प्राय· देखा जाता है कि कोई साधुओं से कुछ कहता है तो वे उलटे दबाने लगते हैं। साधु की भूल बताने पर साधु उसे स्वीकार करके प्रतिक्रमण कर ले और शुद्ध हो जाय और साथ ही भविष्य में ऐसी भूल न करने का ध्यान रक्खे तो ठीक; किन्तु अगर कोई साधु कहे—'हम साधुओं से कहने वाले तुम कौन होते हो ?' और यह कर नाराज हो जाय तो समझना चाहिए कि वह साधु

सुधर नहीं सकता ।

सुखशील बनकर मौज करना और मौज करने के कार्य को भी उज्ज्वल नाम देना और भावुक भक्तों की श्रद्धा से अनुचित लाभ उठाना साधुओं का धर्म नही है। साधुओं का धर्म तो यह है कि वह स्पष्ट कह दे कि शास्त्र का विधान तो ऐसा है; परन्तु मै अपनी अपूर्णता के कारण उसका पालन करने में असमर्थ हूं। जो साधु इस प्रकार अपनी अपूर्णता को स्पष्ट स्वीकार कर लेता है और शास्त्र की अपूर्णता नही बतलाता, शास्त्र उसकी उतनी निन्दा नही करता जितनी शास्त्रविरुद्ध प्रतिपादन करने वाले की निन्दा करता है। जो लोग संयम का शास्त्रोक्त रीति से पालन नही करते, और अपनी अपूर्णता स्वीकार करते है, वे किसी न किसी दिन तो सयम का पालन कर सकेंगे और अपनी अपूर्णता दूर कर सकेंगे, किन्तु जो अपनी अपूर्णता ही नही मानता उसका सुधार होना कठिन है।

कई लोग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का बहाना करके समिति की उपेक्षा करते हैं, उनके अनुसार महाव्रतों का पालन भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देख-देखकर करना चाहिए। परन्तु जो लोग इस प्रकार बच निकलने का रास्ता खोजते है, वे शास्त्र के मार्ग पर चलने वाले नहीं है। जो शास्त्र के मार्ग पर चलने वाले नही है, वे धीर-वीर पुरुष के मार्ग पर चलने वाले नही है। वीर पुरुष के मार्ग पर चलने वाला शास्त्र के मार्ग पर चलता है।

कोई कह सकता है--शास्त्रों की रचना हजारों वर्ष पहले हुई है, आज बदली हुई परिस्थितियों में उनके अनु-

सार किस प्रकार चला जा सकता है ? और ऐसा कहकर जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय लेकर शास्त्र विरुद्ध व्यवहार करता है वह 'इतोभ्रष्टस्ततोभ्रष्टः' की कहावत के अनुसार प्रतीत हो जाता है ।

यह धारणा बदल लो

●

कुछ लोगों का ख्याल है कि गृहस्थों के सामने साधु-आचार सम्बन्धी बातें कहना अनावश्यक हैं । साधु-आचार का विचार तो एक जगह बैठकर साधुओं को ही कर लेना चाहिये । गृहस्थों के सामने उन बातों को रखने से कोई लाभ नहीं है ।

कहा जा सकता है कि साधु-जीवन की शिक्षा की साधुओं को आवश्यकता है । हम गृहस्थों को इस शिक्षा की क्या आवश्यकता है ? तुम गृहस्थाश्रम में हो और साधु साधु-आश्रम में है । अपने-अपने आश्रम में अपने-अपने आश्रम के अनुरूप ही सब क्रियाएं की जाती है । पर गृहस्थ होने का यह अर्थ नहीं कि वह धर्म का पालन ही नहीं कर सकता । अगर गृहस्थधर्म का पालन न कर सकता होता तो भगवान 'जगद्गुरु' न कहलाते, क्योंकि जगत् में गृहस्थों का भी समावेश होता है । अतः गृहस्थ भी धर्म का पालन कर सकते हैं ।

'आप कहेंगे— क्या हमें साधु बनाना है। परन्तु साधुता क्या बुरी वस्तु है ? अगर बुरी होती तो आप साधु का उपदेश ही क्यों सुनते ? साधुता तो विशिष्ट शक्ति होने पर ही धारण की जा सकती है, परन्तु आपको जो साधन मिले हैं, उनका सदुपयोग करो और नीद में मत पड़ो।

जिसने महत्व समझा नहीं

●

प्रत्येक धर्म-सेवक का यह कर्तव्य होता है और उसे यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि जिस धर्म को उसने अपने गले का हार बनाया है, अपने आत्मा का आभूषण समझा है, जिस धर्म से अनन्त सुख और अक्षय शान्ति प्राप्त होने का उसे विश्वास है, उस धर्म के लिए किसी भी प्रिय-से-प्रिय वस्तु को न्योछावर करने से वह पीछे न हटे। जो धर्म को विशेष और सर्वाधिक कहता है, मगर धर्म के लिए किसी वस्तु का त्याग करने में सकोच करता है, समझना चाहिए कि उसने धर्म का महत्त्व नही समझा है।

आज निर्ग्रन्थवर्ग की स्थिति कुछ विषम-सी हो रही है। साधुसमाज और साध्वीसमाज में निरंकुशता फैलती

जाती है । इसका कारण किस प्रकार के पुरुष और किस प्रकार की महिला को दीक्षा देनी चाहिये, इस बात का पूरी तरह विचार नही किया जाना रहा है। दीक्षा सबंधी नियमों का पालन बहुत कम हो रहा है ।

साधुसमाज के निरंकुश होने और साधुता के नियमों में शिथिलता आ जाने के कारण में से एक कारण है— साधुओं के हाथ में समाज-सुधार का काम होना । आज सामाजिक लेख लिखने, वादविवाद करने और इस प्रकार समाज-सुधार करने का भार साधुओं पर डाल दिया गया है । समाज-सुधार करने का कार्य दूसरा कोई वर्ग अपने हाथ में नही ले रहा है । अतएव यह काम भी कई-एक साधुओं को अपने हाथ में लेना पड़ा है । इसलिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में साधुओं द्वारा ऐसे-ऐसे काम हो जाते हैं जो साधुता के लिए शोभास्पद नही कहे जा सकते ।

श्रावक कौन कहलाता है ?

●

जैन-परम्परा में श्रावक शब्द बहुत प्रसिद्ध है। उसका प्रयोग आम तौर पर जैन गृहस्थ के लिए किया जाता है। जो व्यक्ति जैन कुल में उत्पन्न हुआ है, वह श्रावक कहलाता है, ऐसी रूढ़ि-सी हो गई है । मगर श्रावक कहलाने

वाले पर कुछ दायित्व हैं, उसके कुछ कर्त्तव्य भी हैं, इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। अतएव यहाँ श्रावक शब्द का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उसकी व्याख्या कर देना आवश्यक है। कहा है--

> **श्रद्धालुतां श्राति श्रृणोति शासनम्,**
> **दान वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।**
> **कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमम्,**
> **तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः॥**

'श्रावक' शब्द में तीन अक्षर हैं और उन तीनों से श्रावक के अलग-अलग कर्त्तव्यों का बोध होता है। पहले अक्षर 'श्रा' से यह अभिप्राय निकलता है कि श्रावक को जिन वचन में दृढ श्रद्धा धारण करनी चाहिए और साधु-समाचारी, श्रावकसमाचारी और तीर्थंकर भगवान की वाणी को श्रवण करना चाहिए।

साधु की समाचारी सुने बिना गुरु का निर्णय नही हो सकता और श्रावक की समाचारी सुने बिना अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नही हो सकता। समाचारी का अर्थ है कर्त्तव्य कार्य। साधु और श्रावक के शास्त्रविहित कर्त्तव्यों को श्रद्धा के साथ सुनना श्रावक शब्द में रहे हुए 'श्रा' अक्षर का अर्थ है।

'श्रावक' शब्द में दूसरा अक्षर 'व' है इसका अभिप्राय है पुण्य-कार्य में, बिना विलम्ब किये दान दे और अपने दर्शन को दिपावे।

आज लोग प्रायः अपना वड़प्पन दिखलाने के लिए

जाती है । इसका कारण किस प्रकार के पुरुष और किस प्रकार की महिला को दीक्षा देनी चाहिये, इस बात का पूरी तरह विचार नहीं किया जाना रहा है। दीक्षा सबधी नियमों का पालन बहुत कम हो रहा है ।

साधुसमाज के निरंकुश होने और साधुता के नियमों में शिथिलता आ जाने के कारण में से एक कारण है— साधुओं के हाथ में समाज-सुधार का काम होना । आज सामाजिक लेख लिखने, वादविवाद करने और इस प्रकार समाज-सुधार करने का भार साधुओं पर डाल दिया गया है । समाज-सुधार करने का कार्य दूसरा कोई वर्ग अपने हाथ में नही ले रहा है । अतएव यह काम भी कई-एक साधुओं को अपने हाथ में लेना पड़ा है । इसलिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में साधुओं द्वारा ऐसे-ऐसे काम हो जाते हैं जो साधुता के लिए शोभास्पद नही कहे जा सकते ।

श्रावक कौन कहलाता है ?

●

जैन-परम्परा में श्रावक शब्द बहुत प्रसिद्ध है। उसका प्रयोग आम तौर पर जैन गृहस्थ के लिए किया जाता है। जो व्यक्ति जैन कुल में उत्पन्न हुआ है, वह श्रावक कहलाता है, ऐसी रूढ़ि-सी हो गई है । मगर श्रावक कहलाने

गलाधीन है, अल्पकाल तक ही ठहर सकता है, इसके बीच-बीच में दुःख आया करते हैं, यह पाप का बीज है और अन्त में घोर दु ख देकर विदा हो जाता है। सच्चा सुख आत्मनिर्भर होने में है। आत्मा जब पर-पदार्थो में पूर्ण मध्यस्थभाव धारण करता है, किसी भी वस्तु में राग या द्वेष नही करता, तब उसे सच्चा सुख प्राप्त होता है। आत्मा में अनन्त आनन्द भरा है। आत्मा का स्वरूप ही आनन्द है। मगर अज्ञान आत्मा अपने अक्षय खजाने से अनभिज्ञ है। वह पुद्गलों से आनन्द की भीख माँगता है। इसीलिए वह दुखी है।

सुख के लिए कही भी बाहर की तरफ नजर फैलाने की जरूरत नही है। अपनी ही ओर देखने से, अपने में ही लीन होने से सुख की प्राप्ति होगी। बाह्य वस्तुएं सुख नही दे सकती। उनसे जो सुख मिलता मालूम होता है, वह सुख नही, सुखाभास है। शहद लपेटी हुई तलवार की धार चाटने से क्षणभर सुख-सा प्रतीत होता है, मगर उसका परिणाम कितना दुःखप्रद है? यही बात ससार की समस्त सुखसामग्री की है।

जहाँ वाह्य पदार्थो का संसर्ग होगा, वहाँ व्याकुलता होना अनिवार्य है और जहाँ व्याकुलता है वहाँ सुख नही है। निराकुलता ही सुख है और निराकुलता तभी आती है जव सयोगमात्र का त्याग कर दिया जाता है।

इसी में कल्याण है

●

सर्वप्रथम यह देखने की आवश्यकता है कि हम किस जगह भूल करते हैं, किस स्थान पर हमारा सच्चा मार्ग हमसे छूट जाता है और हम विपथगामी बनते है ? मेरे विचार से सबसे पहली भूल तब होती है जब कोई मनुष्य बुरा काम करता है, लेकिन उसे बुरा न समझकर अच्छा समझता है। फिर भी लोगों की प्रकृति में ऐसी बुराइयां आ घुसी है, उनके हृदय सकीर्ण एव शंकाशील हो गये हैं। भूल को भूल समझ लेने से वह इतनी भयंकर नही रहती मगर जब भूल भूल ही नही मालूम होती तब भूलों की परम्परा चल पड़ती है और भूल करने वाला उसका परि-मार्जन करने की ओर भी ध्यान नही देता। इसी कारण संसार-चक्कर में पड़कर अपने अन्तर को मलीन बनाये हुये है।

लोग बड़प्पन के काम तो करना नही चाहते, मगर बड़प्पन चाहते हैं। बड़प्पन चाहने के लिये जितने प्रयत्न हैं उतने प्रयत्न बड़े बनने के लिये नही करते। वास्तव में बड़प्पन हो या न हो, मगर दूसरों को हमारा बड़प्पन दिखना चाहिये, इच्छा से प्रेरित होकर लोग बड़प्पन दिखाने के लिये तुच्छता के काम करते हैं। इसी प्रकार की दुर्भा-वना अपवित्र वस्तुओं की ओर आकर्षित करती है। बड़-प्पन न होने पर भी बडप्पन दिखाने की कुत्सित चाल ने ससार में वेहद ढोंग फैलाया है।

मित्रो ! जो निगूढतर तत्व तुम्हारी बुद्धि से परे है और जिस तक तुम्हारी पहुंच नही हो पाती, उसे अगर न भी जान सको तब भी इतना तो समझ लो कि जो मलिन दिखाई दे रहा है उसे स्वच्छ कर लेने में क्या हर्ज है ? ऐसा समझ कर अगर आप अपने अन्त·करण को निर्बल बना लें तो आपका अन्तःकरण एक प्रकार के अद्‌भुत प्रकाश से दीप्यमान होने लगेगा और तव सत्य का प्रकाश भी प्राप्त हो जायेगा ।

परमात्मा का मोहनगारो रूप त्यागियों को नजर आता है । वह भोगियों को दिखाई नही देता । अतएव त्याग को अपनाओ । मैं यही कहना चाहता हूं कि आप जितना शक्य हो, उतना त्याग करो । इस पथ पर चलना प्रारम्भ करो । त्याग के बिना न यह लोक सुधरता है, न परलोक सुधरता है । सूक्ष्म पापों का त्याग नहीं कर सको तो भी महापाप का तो अवश्य त्याग करो । ऐसा करोगे तो तुम्हारा ही कल्याण होगा ।

सत्संकल्प सफलता का सोपान

●

अगर तुम्हारे संकल्प में सचाई और दृढता है तो तुम्हें दुःख हो ही नही सकता । सदृढ सत्संकल्प मे ही

दुःखों से छुटकारा पाया जा सकता है। ढीले संकल्प से कुछ बनता नही।

आज के लोगों को संकल्प की शक्ति के विषय में सन्देह रहता है, परन्तु संकल्प मे अनन्त बल सन्निहित है।

संकल्प सत्संकल्प हो तो उसके द्वारा ध्रुवत्व अर्थात् मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है। सत्सकल्प ही ईश्वर है; यह मानकर सकल्प पर दृढ रहो और उस पर दृढ़ विश्वास रखो।

आज के लोगों की श्रद्धा लगड़ी बन गई है। उसमें उत्साह या सत्संकल्प नही रहा है। लोग समझते हैं कि सत्सकल्प के चक्कर में पड़ जाएंगे तो हमारा काम ही अटक जायगा। अतएव सत्सकल्प की बात केवल सुनने भर के लिए है, अमल के लिए नही।

लोग इस प्रकार की बाते बनाकर निकल भागते है। पर इस प्रकार की निर्बलता धारण करने से किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नही मिल सकती। सच्ची स्वतन्त्रता तो क्षमा, जितेन्द्रियता, निरारंभता और प्रव्रज्या से ही प्राप्त हो सकती है। इनके सिवाय और सब बातें पर-तन्त्रता में डालने वाली हैं।

जो संकल्प प्रशस्त हो, जिसमे विकार न हो और जिसका प्रत्येक परिस्थिति में पालन किया जाय, वह सत्सकल्प कहलाता है। अस्वस्थ अवस्था में किये सकल्प को स्वस्थ अवस्था में पालन करना सत्संकल्प है। एक बार संकल्प

किया और जब उसका पूर्ण करने का समय आया तो संकल्प के अनुसार कर्तव्यपालन न किया तो उसे दृढ़ संकल्प नहीं कह सकते। जो सकल्प प्रत्येक परिस्थिति में कर्तव्यपालन की ओर ही प्रेरित करता है वही सत्सकल्प है।

सत्य में कोई भेदभाव नहीं है

सूर्य सर्वत्र दिखाई देता है। उसके दीखने में किसी भी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता। लेकिन सूर्य की किरणें कांच के टुकड़े पर पड़कर जैसी चमक देती है वैसी चमक किसी ठीकरों पर पड़कर नही देती। फिर भी कांच की भांति ठीकरी पर चमक न देने पर भी सूर्य में किसी प्रकार का भेद नही होता। वह तो सर्वत्र एक रूप से ही अपना प्रकाश फैलाता है।

सत्य सर्वत्र एक है। वह देश और काल की सीमाओं से परे है। ससार के सभी सम्प्रदाय उसी सत्य को ग्रहण करने का प्रयास करते है। यही कारण है कि सव सम्प्रदायों में मूल वात अहिसा को स्थान मिला है, तथा अन्य मौलिक वातों में भी समानता है। कौन सम्प्रदाय ऐसा है जो पारस्परिक भ्रातृभाव का निषेध करता है? किस पंथ में विधर्मी के प्रति सौजन्यपूर्ण व्यवहार करने का विरोध

किया गया है ? फिर भी लोगों की प्रकृति में ऐसी बुराइयां आ घुसी है उनके हृदय इतने संकीर्ण एवं शंकाशील हो गये है कि अच्छो वस्तु भी बुरी नजर आती है । अतएव जब तक प्रकृति में परिवर्तन नही होता, अन्त:करण में निर्मलता नहीं आती, तब तक धर्म के सच्चे और गूढ़तम रहस्यों का पता नही चल सकता ।

मित्रो ! जो निगूढ़तर तत्व तुम्हारी बुद्धि से परे हैं और जिस तक तुम्हारी पहुंच नही हो पाती, उसे अगर न भी जान सको; तब भी इतना तो समझ लो कि जो वस्त्र मलिन है और मलिन दिखाई दे रहा है, उसे स्वच्छ कर लेने में क्या हर्ज है ? ऐसा समझ कर अगर आप अपने अन्त:करण को निर्मल बना ले तो आपका अन्त.करण एक प्रकार के अद्भुत प्रकाश से देदीप्यमान होने लगेगा और तब सत्य का प्रकाश भी प्राप्त हो जायगा ।

अत: सर्वप्रथम यह देखने की आवश्यकता है कि हम किस जगह भूल करते हैं । किस स्थान पर हमारा सच्चा मार्ग हमसे छूट जाता है और हम विपथगामी बनते हैं ? मेरे विचार में सबसे पहली भूल तब होती है जब कोई मनुष्य बुरा काम करता है लेकिन उसे बुरा न समझकर अच्छा समझता है । भूल को भूल समझ लेने से वह इतनी भयंकर नही रहती । मगर जब भूल, भूल ही नही मालूम हो तो, तब भूलों की परम्परा चल पड़ती है और भूल करने वाला उसका परिमार्जन करने की ओर भी ध्यान नही देता इसी कारण संसार चक्कर में पड़कर अपने अन्तर को मलीन बनाये हुये है । लोग अपने अन्त.करण की मलीनता

अपनी आंखों से देखना चाहते हैं परन्तु आंखों से वह दिखती नहीं है। अतएव प्रत्येक वस्तु को पकड़ कर देखो और प्रत्येक भावना की जाँच करो।

पर्यूषण पर्व

●

'पर्यूषण' का अभिप्राय क्या है, यह देखने की आवश्य-ता है।

'पर्यूषण' अर्थ को प्रकट करने वाले प्राकृत भाषा में दो शब्द है—'पज्जुसणा' और 'पज्जोसवणा।' इनमें 'पज्जुसवणा' का संस्कृत रूप ही 'पर्यूषणा' या 'पर्यूषण' है और 'पज्जोसवणा' का 'पर्यूषणा' के अतिरिक्त 'पर्युपशमना' संस्कृत-रूप और होता है। 'पर्यूषण' शब्द का शाब्दिक अर्थ है— 'पूर्ण रूप से निवास करना' और पज्जोसवणा या पर्युपशमना का अर्थ है— 'पूर्णरूप' से शान्त करना या जिसके द्वारा पूर्ण रूप से शान्त किया जाय।'

'पर्यूषणा' का दूसरा रूप पर्युपशमना है। पर्युपशमना अर्थात् शान्त करना। अनादि काल से आत्मा में विकारों की विद्यमानता होने के कारण आत्मा संतप्त रहता है, क्षुब्ध रहता है, चंचल बना रहता है। इन विकारों की

बदौलत आत्मरमण का अद्‌भुत आनन्द लुप्त हो रहा है। अतएव इन विकारों को शान्त करना, जिनके द्वारा विकार शान्त हो सकते हों उन शुभ भावों का अवलम्बन करना, अशुभ भावनाओं पर विजय प्राप्त करना, पर्युपशमना है।

यहाँ 'पर्यूषणा' के जो दो रूप बताये गये है उनमें एक साध्य है और दूसरा साधन है। आत्मा में पूर्ण रूप से निवास करने के लिए विकारों के उपशमन की आवश्यकता होती है। जब तक विकारों की उपशान्ति नही हो जाती, तब तक आत्मरमण का अपूर्व आस्वादन नही किया जा सकता। अतएव 'पर्युपशमना' से विकारों को शात करके 'पर्यूषणा' अर्थात् आत्मस्थिति-स्वरूप में अवस्थान करना ही पर्यूषण पर्व की आराधना करना है।

पर्यूषण पर्व का सन्देश

●

दूसरे के अधिकारों को अपहरण करके यश प्राप्त करने की इच्छा मत करो; जिसका अधिकार हो उसे वह सौप कर यश के भागी बनो।

तुम्हारे इस बहूमूल्य जीवन का समय निरन्तर-अविश्रान्त गति से व्यतीत होता जा रहा है। जो समय जा

रहा है वह फिर कभी नही मिलेगा । इसलिये हे मित्र, प्रमाद में समय मत गंवाओ । कोई ऐसा कार्य करो जिससे तुम्हारा और दूसरों का कल्याण हो ।

साधारणतया ससार के सभी प्राणी कोई-न-कोई क्रिया करते है । लेकिन अज्ञानपूर्वक की जाने वाली क्रिया से कुछ भी आध्यात्मिक लाभ नही होता । जो क्रिया, ज्ञानानुसारिणी नही है वह प्रायः निष्फल ही सिद्ध होती है ।

तुम मानते हो कि हम महल और धन-दौलत आदि के स्वामी है पर, एक बार एकाग्रचित्त से सोचो कि वास्तव मे ही क्या तुम उनके स्वामी हो ? कही वह तुम्हारे स्वामी तो नही है ? तुम उनके गुलाम ही तो नही हो ?

जिस वस्तु के साथ तुम अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हो, पहले उससे पूछ देखो कि वह तुम्हे त्याग कर चली तो नही जाएगी ? इसी प्रकार अपने कान-नेत्र, नाक आदि से पूछ लो कि वे बीच में दगा तो नही देगे ? अगर दगा देते हैं तो तुम उन्हें अपना कैसे मान सकते हो ?

जितनी अधिक सादगी होगी, पाप उतना ही कम होगा । सादगी में ही शील का वास है । विलासिता बढ़ाने वाली सामग्री महापाप का कारण है । वह विलासी को भी भ्रष्ट करती है और दूसरों को भी ।

किसी भी दूसरे की शक्ति पर निर्भर मत बनो । समझ लो, तुम्हारी एक मुट्ठि में स्वर्ग है, दूसरी में नरक है । तुम्हारी एक भुजा में अनन्त ससार है और दूसरी में

अनन्त मंगलमयी मुक्ति है। तुम्हारी एक दृष्टि में घोर पाप है और दूसरी दृष्टि में पुण्य का अक्षय भडार भरा है। तुम निसर्ग की समस्त शक्तियों के स्वामी हो, कोई भी शक्ति तुम्हारी स्वामिनी नहीं है। तुम भाग्य के खिलौना नही हो वरन् भाग्य के निर्माता हो। आज का तुम्हारा पुरुषार्थ कल भाग्य बन कर दास की भाति सहायक होगा।

मुह से जैसी ध्वनि निकालोगे वैसी ही प्रतिध्वनि सुनने को मिलेगी। अगर कटुक शब्द नही सुनना चाहते तो अपने मुंह से कटुक शब्द मत निकालो।

संवत्सरी का सन्देश

●

संवत्सरी के दिन वर्ष भर के पाप की आलोचना की जाती है। अन्तःकरण में जमा हुई गदगी को हटा देने का यह पर्व है। संवत्सरी के पश्चात हृदय निर्मल करके जीवन का नया पथ निर्मित होना चाहिए, जिस पर चल कर आत्मा अपने अक्षय कल्याण के परम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो सके। भावना में पावनता लाने और हृदय को स्वच्छ बनाने के लिए क्षमायाचना की जाती है। यह एक परम पवित्र प्रणाली है। केवल ऊपरी रूप से इसका अनुसरण मत करो वरन् उसकी चेतना को जागृत रखो।

उसे सजीव रूप में पालन करो। ऐसा करने से आपका जीवन ऊची कक्षा में पहुंचेगा और धर्म की भी प्रभावना होगी। क्षमायाचना के लिए महाराज उदायी का दृष्टान्त सामने रखो। महाराज उदायी ने पराजित्त और बंधन बद्ध चन्डप्रद्योत का राज्य संवत्सरी संबंधी क्षमायाचना के उपलक्ष्य में सहर्ष लौटा दिया था। इसे कहते हैं क्षमायाचना ! किसी के अधिकार को दबा रखो और फिर उससे क्षमा मांगो तो यह क्षमायाचना के महत्त्व को बढ़ाना नही, घटाना है।

यह पवित्र दिन पुराने पापों को धोने और नये पाप न करने के दृढ़ संकल्प का दिन है। आशय यह है कि लोभ के कारण सांसारिक कामों में भी धर्म सबधी जो त्रुटियां रहती हों, उन्हे दूर करने का संकल्प कीजिए और भविष्य में वह त्रुटियां मत रहने दीजिए। अपवित्रता को दूर करके आत्मा को पवित्रता के सरोवर में स्नान कराइए।

क्षमापणा का अर्थ

●

जैन परम्परा में चौरासी लाख जीवयोनियों से 'खमाने' की परम्परा चालू है; पर जहां विरोध उत्पन्न हुआ हो वहां क्षमा-याचना करना ही सच्ची क्षमा है। दूसरे का दिल

दुखाया हो अथवा उसके दिल में कलुषता उत्पन्न की हो, अथवा दूसरों की ओर से अपने दिल में मलीनता उत्पन्न हुई हो तो उस विरोध या कलुषता को क्षमा के आदान-प्रदान द्वारा शान्त कर देना ही सच्ची क्षमापणा है। एकेन्द्रिय जीवों या द्वीन्द्रिय जीवों की ओर से तुम्हें कोई संताप हुआ हो तो उसे भूल जाना और हृदय में इस संबंध की कोई कलुषता न रहने देना, और अपने हृदय को पूरी तरह निर्वैर बना लेना क्षमापणा का उद्देश्य है।

विश्व के समस्त प्राणियों पर निर्वैरभाव रखना और विश्वमैत्रीभावना विकसित करना क्षमापणा का महान आदर्श और उद्देश्य है। मनुष्य के साथ मनुष्य का सबध अधिक रहता है अतएव मनुष्यों के प्रति निर्वैरवृत्ति धारण करने के लिए सर्वप्रथम अपने घर के लोगों के साथ, अगर उनके द्वारा कलुषता उत्पन्न हुई हो या उनके चित्त में कलुषता हुई हो तो क्षमा का आदान-प्रदान करके विश्वमैत्री का शुभ समारम्भ करना चाहिए।

क्षमापणा प्रायः हमेशा की जाती है। प्रतिक्रमण के पश्चात् क्षमापणा करने की प्रथा है। पर यह देखना आवश्यक है कि उस क्षमा का उद्गम स्थान कहां है? वह अन्तःकरण से उद्गत हुई है या जिह्वा से? कही ऐसा तो नही होता कि प्रतिक्रमण करके उपाश्रय में भाई के साथ क्षमापणा करते हो और वाहर निकलते ही भाई के खिलाफ कोर्ट के किवाड़ खटखटाते हो? पहले का वैर-भाव चालू तो नही रखते? अगर इस तरह बाहर से क्षमाभाव प्रदर्शित करो और भीतर वैरभाव चालू रखो तो

वह सच्ची क्षमापणा नहीं है। सच्ची क्षमापणा कर लेने के पश्चात् पारस्परिक वैमनस्य या झगड़ा चालू नही रह सकता।

स्वतन्त्रता के रक्षक कौन ?

●

तुम भारत में जन्मे हो। तुममें भारत का क्षेत्र-विपाकी गुण होना स्वाभाविक है। फिर भी तुम अपने रग-ढग, खानपान और पहनाव को देखो। तुम भारतीय हो पर भारतीय भाषा क्या तुम्हें प्यारी लगती है ? अगर मातृभाषा तुम्हे प्रिय नही है तो इसे दुर्भाग्य के सिवाय और क्या कहा जाय ? परदेशी लोग भारत की प्रशंसा करे और तुम भारतीय होकर भी भारत की अवहेलना करो, यह कुछ कम दुर्भाग्य की बात नहीं है।

स्वतन्त्रता तो सभी चाहते है किन्तु जो लोग आकाश में स्वैर विहार करने की तरह केवल लम्बे-चौड़े भाषण ही करना चाहते हैं, उनसे परतन्त्रता का जाल कट नही सकता। परतन्त्रता का जाल तो जमीन को खोदने वाला किसान ही काट सकता है।

अय मेरे वतन के लोगों....

●

अमेरिकन डाक्टर थॉर एक आध्यात्मिक विद्वान था। एक बार वह अपने शिष्यों के साथ जंगल में गया। वहाँ उसके शिष्यों ने थॉर से पूछा....'स्वर्ग की भूमि अच्छी या यहाँ की भूमि ?' थॉर ने उत्तर दिया--'जो भूमि तुम्हारा बोझ सहन कर रही है, जिस भूमि के उपादानों से तुम्हारे शरीर का निर्माण हुआ है, उसे अगर स्वर्ग की भूमि से हल्की समझते हो तो उस पर पैर धरने का भी तुम्हे अधिकार नही है।'

इस प्रकार जिस भूमि से तुम्हारा अपरिमित कल्याण हो रहा है, उसे तुच्छ मानकर स्वर्ग का गुणगान करते रहना एक प्रकार का व्यामोह ही है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

बूढ़ा भारत गर्व के साथ कहता है--मैं आर्य प्रजा का जनक, पुरातन गौरवगरिमा से मडित देश हूं। मुझे नंगा बनाने की विदेशियों ने कितनी ही चेष्टाएं की हों, मेरे बृहत् भंडार में से विदेशी कितनी ही सम्पत्ति क्यों न लूट ले गये हों, फिर भी मै सदा के लिए दरिद्र और नंगा नही हुआ हूं। केवल दस वर्ष तक ही अगर हमारे यहां की गौएं न मारी जावे, मेरा कच्चा माल बाहर न भेजकर पक्का माल बाहर से न मंगाया जावे, तो फिर मै वही सुवर्णकाल का भारत बन जाऊंगा। मैं शीघ्र ही संसार के समुन्नत किसी भी देश को प्रतिस्पर्धा में बाजी मार लूंगा।

आपने इसी भारतभूमि पर जन्म ग्रहण किया है। इसी भूमि पर आपने शैशव-क्रीड़ा की है। इसी भूमि के प्रताप से आपके शरीर का निर्माण हुआ है। हंस ने मान-सरोवर से जो कुछ प्राप्त किया है, उससे कही बहुत अधिक आपने अपनी जन्मभूमि से पाया है। अतएव हंस पर मान-सरोवर का जितना ऋण है, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक ऋण आपके ऊपर अपनी जन्मभूमि का है। इस ऋण को आप किस प्रकार चुकाएंगे ?

राष्ट्र के प्रति हमारा उत्तरदायित्व है

जिस कार्य से राष्ट्र सुव्यवस्थित होता है, राष्ट्र की उन्नति-प्रगति होती है, मानव समाज अपने धर्म का ठीक ठीक पालन करना सीखता है, राष्ट्र की सपत्ति का सर-क्षण होता है, सुख-शाति का प्रसार होता है, प्रजा सुखी वनती है, राष्ट्र की प्रतिष्ठा बढती है और कोई अत्याचारी परराष्ट्र के किसी भाग पर अत्याचार नही कर सकता, वह कार्य राष्ट्रधर्म कहलाता है।

राष्ट्र के प्रत्येक निवासी पर राष्ट्रधर्म के पालन करने का उत्तरदायित्व है, क्योंकि एक ही व्यक्ति के भले या बुरे काम से राष्ट्र विख्यात या कुख्यात (बदनाम) हो सकता है।

हम लोगों को जन्म देने वाली, पाल-पोस कर वडा करने वाली माता तो माता है ही, मगर अपने पेट में से पानी निकाल कर पिलाने वाली, अपने उदर में से अन्न निकाल कर देने वाली, स्वयं वस्त्रहीन रहकर हमें वस्त्र देने वाली और माता की भी माता हमारी मातृभूमि है। माता और मातृभूमि का जितना उपकार माना जाय उतना ही कम है ।

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।' अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक महिमामयी है । यह कथन सोलह आने सत्य है । यह भारतवर्ष अपना देश है । अपनी मातृभूमि है । हम सब उसकी संतान हैं । माता की आबरू रखना, माता की प्रतिष्ठा की रक्षा करना संतान का कर्त्तव्य है ।

अत: निम्नलिखित सुवर्णक्षर अपने हृदयपट पर अंकित कर लो—

'राष्ट्र की रक्षा में हमारी रक्षा है । राष्ट्र के विनाश में हमारा विनाश है ।'

राष्ट्रधर्म का मुख्य सार यह है :—

ऐक्य, राज्य, स्वातन्त्र्य, यही तो राष्ट्र अंग है ।
सिर, धड़, टागों सदृश, जुड़े हैं अंग सग है ।।
व्यक्ति कुटुम्ब समाज सब, मिले एक ही धार में ।
मिला शाति-सुख राष्ट्र के पावन पारावार में ।।

विवेक और विचार की आवश्यकता

●

भारतीयों को भारतीय वस्तु रुचती नही है और विदेशी वस्तुएं किस प्रकार बनाई जाती है, यह बात वे जानते नही है। वास्तव में यह देश को लज्जित करने वाली बात है। आप तेल का भी उपयोग करते होंगे, परन्तु कौन-सा तेल किस प्रकार बना है और वह आपकी प्रकृति के लिये अनुकूल है या प्रतिकूल ! इन बातों पर भी कभी आपने विचार किया है ? आज की पोशाक ही इतनी पापमय है कि तेल, लवंडर और सेंट के बिना काम ही नही चल सकता। आज तो खाने की वस्तुओं की अपेक्षा भी पहनने की वस्तुएं भारी हो रही है।

आज महिलाओं में भी नये-नये फैशन चले हैं और कितने ही लोगों का कहना है कि उन्हें अपनाने मे हानि ही क्या है ? मगर ऐसे अन्धानुकरण प्रेमी यह नही सोचते कि खान-खान और वेषभूषा का परिणाम क्या होता है ? इससे संस्कृति, स्वभाव और प्रकृति पर कैसा प्रभाव पड़ता है।

वास्तविक जीवनोपयोगी वस्तुओं का त्याग करके जीवन को भ्रष्ट करने वाली वस्तुओ को अपना लेने से आज बड़ी बेढ़ंगी स्थिति उत्पन्न हो गई है। यह सब प्रकृति के साथ वैर विसाहने के समान है। प्रकृति के साथ वैर करने के कारण ही ऐसे-ऐसे रोग फूट पड़े हैं जिनका कभी नाम भी नहीं सुना था।

अभिप्राय यह है कि खान-पान और वेष-भूषा से भी जीवन प्रभावित होता है, अतएव इनमें विवेक और विचार रखना चाहिए।

राजनीति का राजमार्ग

●

आज विश्व में जो राजनीति प्रचलित है उसका मुख्य आधार छल-कपट है। राजनीतिज्ञों की धारणा है कि बिना चालबाजी किये राजनीति में सफलता प्राप्त नही की जा सकती। एक ओर सुलह-संधि की बाते की जाती हैं और दूसरी ओर हिंसात्मक आक्रमण की तैयारियाँ चालू रहती है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को भुलावे में रखकर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने की पुकार मचाता है और दूसरी ओर परिस्थिति अनुकूल होते ही उस पर हमला बोल देता है। तात्पर्य यह है कि इस समय की राजनीति, न्याय या प्रामाणिकता की सर्वथा उपेक्षा करती हुई मायाचार के जाल में जकड़ी हुई है। मगर इससे दुनिया में घोर अशान्ति है, कौन मित्र है और कौन शत्रु है, कौन किस समय क्या कर गुजरेगा, इस बात का ठीक-ठीक पता न लगा सकने के कारण प्रत्येक राष्ट्र का और प्रत्येक राजनीतिक दल का, प्रत्येक क्षण नाना प्रकार के कपट-जाल के निर्माण में ही लग रहा है। कपट-जाल की उलझन बढ़ती जा रही है

और उनके बढाने में घोर प्रतिस्पर्धा हो रही है। जो छल-कपट में जितना अधिक कुशल है वह राजनीति में उतना ही उस्ताद माना जाता है।

समग्र विश्व छल-नीति का शिकार हो रहा है। पारस्परिक अविश्वास की मात्रा इतनी अधिक बढ़ गई है कि अगर कोई अन्त.करण से सच्ची सद्भावना प्रदर्शित करता है तो उस पर भी विश्वास नही किया जा सकता। उसके विषय में भी यही सोचा जाता है कि न जाने किस गूढ अभिप्राय से वह ऐसी बातें कह रहा है? इस प्रकार सर्वत्र अविश्वास, सर्वत्र असतोष और शंकाशीलता के साम्राज्य में कौन सुख की सांस ले सकता है?

इसके अतिरिक्त, जो कपटनीति से काम लेता है, उसकी विजय कभी-न-कभी पराजय के रूप में परिणित हुए बिना नही रह सकती। वह अपनी कपट का आप ही शिकार बन जाता है। प्राय: देखा गया है कि जो समूह अपने विरोधियों के साथ छल-नीति का प्रयोग करता है, वह अन्त में आपस में एक-दूसरे के साथ भी वैसा ही व्यवहार करके अपने समूह की शक्ति को नष्ट कर डालता है।

मनुष्यता का मापदंड

●

अमीर लोग मनुष्यता को शायद वस्त्रों और आभूषणों से नापते हैं। अगर मनुष्यता को नापने का यही गज न हो तो वे मनुष्यता की प्रतिस्पर्द्धा में बहुत पिछड़ जावे। इसी से उन्होंने यह गज मान लिया है। उनकी निगाह में वह मनुष्य निरा जंगली पशु है, जिसके पास पहनने को कपड़ा नही और सजने को आभूषण नही। मगर बात असल में उल्टी है। जिसके पास मनुष्यता का बहुमूल्य आभूषण है उन्हें जड़ आभूषणों की क्या आवश्यकता है? जिन्हें मनुष्यत्व का वास्तविक और सहज आभूषण प्राप्त नही है वही लोग ऊपर से आभूषण लाद कर अपने आपको आभूषित घोषित करते है।

जो शरीर अरिहंतों को, गणधरों को, महान मुनिराजों को और बड़े-बड़े श्रावकों को मिला था वही शरीर आपको मिला है। ध्यानपूर्वक देखो तो मालूम होगा कि इस शरीर में कितनी सुन्दरता है। इस शरीर का सदुपयोग किया जाय तो परमात्मा और आत्मा की एकरूपता होने में देर न लगे।

इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता कि मनुष्य-जन्म बड़े पुण्य से मिलता है। जो मनुष्य इस अमूल्य देह को पाकर भी व्यर्थ की मौज-शौक में इसका अन्त कर देता है, उसके बराबर कोई मूर्ख नही कहला सकता। बुद्धिमान मनुष्य इस देह को पाकर क्षण-क्षण में अपनी

श्रेष्ठ साधना का मंत्र जपता रहता है, पर मूर्ख यही समझता है कि मैने मनुष्य-जन्म पाया है, फिर ऐसी देह नहीं मिलेगी, इसलिए जो कुछ मौज-शौक कर लू वही मेरी है।

जो लोग भोगों का उपभोग करने में ही मनुष्य जन्म की सार्थकता समझते हैं, वह भी कहते है कि मनुष्य जीवन की प्राप्ति दुर्लभ है। जो लोग भोगोपभोग के त्याग में ही मानव जीवन का विकास मानते हैं इसीलिए त्याग का उपदेश देते है, वह भी मानव-भव को दुर्लभ कहते हैं। उनका कथन यह है कि मनुष्य-भव बारम्बार मिलना कठिन है अतएव अतृप्तिप्रद एवं निस्सार भोगों के लिए मूल्यवान् मानवभव गंवाना उचित नही है। इस प्रकार मनुष्यभव की दुर्लभता सर्वसम्मत है, भले ही विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जाय। वास्तव में इस अनमोल जीवन को पाकर इसे सफल बनाने का विचार अवश्य करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जो लोग भोजन-वस्त्र-मकान आदि के उपयोग में ही मनुष्यजन्म को सार्थक मानते है, वे पशु-पक्षियों से अधिक कुछ भी प्रगति नही कर सकते। मनुष्य-जन्म की सार्थकता आत्मा के उस विकास में निहित है जो न केवल क्षुद्र वर्तमान में ही उपयोगी एव कल्याणमय है, वरन् जिससे अनन्त मंगल-साधन होता है।

मनुष्यता से नीचे न गिरो

●

वास्तव में देखा जाय तो संसार की वस्तुओं को अपने भोग के लिए मान कर उनके अधीन हो जाने में सच्चा सुख नही है। सच्चा सुख स्वतन्त्रता में है। अगर कहा जाय कि शरीर भोग के लिए ही है तो इसका उत्तर ये है कि भोग तो विष्ठा खाने वाले शूकर भी भोग सकते हैं। ऐसी दशा में ये कैसे कहा जा सकता है कि मनुष्य शरीर भोग के लिए ही है ? ये बात दूसरी है कि किसी की रुचि भोगों में अधिक हो और वह भोग भोगने में ही शरीर की सार्थकता समझ ले, पर संसार में कुछ लोग ऐसे भी तो मिलते है जो भोगों को भुजंगम के समान मान कर उनसे विमुख हो जाते है। भोगों की ओर उनकी रुचि नही जाती। अतएव सिर्फ रुचि के कारण यह नही कहा जा सकता कि मानव शरीर भोग के निमित्त है।

इस ससार में मनुष्य की दो श्रेणियाँ की जा सकती है। पहली श्रेणी में वे है जो अपना जन्म भोग के लिए ही मान रहे हैं और दूसरी श्रेणी उनकी है जो जीवन का उद्देश्य तप समझते है। इन दो श्रेणियों के लोग पहले भी थे और आज भी है। इन दोनों में कितना अन्तर है और अन्त में किसके लिए क्या परिणाम निकलता है, यह बात सभी जानते हैं।

अत: आप स्वतन्त्रता चाहते है तो सादगी को अपनाइये और दैवीबल प्राप्त कीजिये। कभी मनुष्यत्व से नीचे

मत गिरिये। निरन्तर प्रयास कीजिये कि आपकी आत्मा उन्नत, उज्ज्वल और निर्विकार बनती जाय। ऐसा करने से आपका कल्याण होगा।

...तो फिर भय क्यो ?

●

जब झूठ से भय होता है, सत्य से भय नही होता, तो फिर तुम्हे क्या भय है? कदाचित तुम सोचो कि हमारी सत्य बात मानी नही जायगी; लेकिन अगर कोई सत्य पर विश्वास नही करता तो तुम्हारी क्या हानि है? तुम अपने सत्य पर अटल रहो। असत्य के भय से सत्य को त्यागकर असत्य का आसरा लेने की आवश्यकता नही है। तुम्हारी सत्य बात मानी नही जायगी, यह विचार कर अगर भय किया तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हे सत्य पर पूर्ण विश्वास नही है। चिन्ता नही, अगर कोई तुम्हारे सत्य पर विश्वास नही करता। भले ही तुम्हारे सत्य की लोग निन्दा करे, खिल्ली उड़ावे या सत्य के कारण भयंकर यातना पहुंचावे, परन्तु भय मत खाओ। अगर तुम भय खाते हो तो समझ लो कि तुम्हारे अन्तर् के किसी-न-किसी कौने में असत्य के प्रति श्रद्धा का कुछ भाव मौजूद है। सत्य पर जिसे पूर्ण श्रद्धा है वह निडर है। संसार की कोई भी शक्ति उसे भयभीत नही कर सकती।

शास्त्र में सत्य को 'अबाधित' और 'भगवान' बतलाया गया है। जिसमें सत्य है उसे भय नही है, क्योंकि सत्य 'अबाधित' है—बाधा रहित है और जहां बाधा नही, वहा भय किस बात का ? प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा है— 'तं सच्चं भगवओ' अर्थात् सत्य भगवान है। सत्य भगवान है, इसलिए सत्य की आराधना करो। सत्य का आसरा गहो। सत्य पर श्रद्धा रखो। सत्य का आचरण करो। मन से, वचन से, और काय से सत्य की आराधना करो। सत्य भाषण करने से निडर बन जाओगे। सत्य बोलने से अगर कोई प्राण ले ले तो भी परवाह मत करो।

तुम किसी से भय न करके सत्य ही सत्य का व्यवसार रखो तो तुम जान जाओगे कि मुझे परमात्मा मिल गया। परमात्मा की शरण में जाने का उपाय है— सत्य। भय का स्थान तो असत्य है। सत्य का ही व्यवहार करना और किसी से भय न खाना ही मोह को जीतना कहलाता है।

मित्रो ! अगर आप अपने प्रत्येक जीवन-व्यवहार को सत्य की कसौटी पर कसे, सत्य को ही अपनावें और सत्य पर पूर्ण श्रद्धा रखे तो आप परमात्मा की शरण में पहुंच सकेंगे और आपका अक्षय कल्याण होगा।

ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर

कायर अपनी बुराई को छिपाता रहता है और समझता है मैंने लोगों की आंखों में धूल झोंक दी है। लोग मेरे ऐबों को देख ही नही सकते। ज्ञानीजन अपनी बुराई को छिपाने का प्रयत्न ही नही करते। वे उसे ज्यो का त्यों प्रकट करके अपने हृदय का मलिन बोझ उतार कर हल्के हो जाते है। उन्हे मालूम है, छद्मस्थ से भूल होना स्वाभाविक है। केवल वीतराग भगवान् के सिवाय और सभी भूल के पात्र हैं। ऐसी स्थिति में किसी भूल को छिपाने के लिए छल-कपट और मिथ्या का आश्रय लेकर नवीन पाप बांधने से क्या लाभ है? अपनी भूल को छिपाने का प्रयास करना अज्ञान है, मूर्खता का लक्षण है।

जो लोग अपने अवगुणों को बड़े यत्न से छिपाकर अन्त.करण में सुरक्षित रख छोड़ते है उनका हृदय उनके अवगुणों का स्थायी निवास-स्थान बन जाता है। इसके अतिरिक्त उसे सदा इस बात की चिन्ता रहती है कि अभी किसी प्रकार मेरे अवगुण प्रकट न हो जाएं। वह सदा भयभीत रहता है, दबा रहता है। खुल कर बात करने मे उसे मन-ही-मन लज्जा होती है।

भूल हो जाना अच्छी बात नही है, पर उस भूल को छिपा कर अपने आपको भूल-रहित प्रकट करने की भूल करना बहुत ही जघन्य कृत्य है। अधिक-से-अधिक सावधान रह कर भूल न होने देने की चेष्टा करो, पर फिर

भी अगर भूल हो जाय तो सच्चे मर्द की तरह उसे स्वीकार कर लो। उसे प्रकट कर दो। उसे दबाने की रच-मात्र भी चेष्टा मत करो। इससे तुम्हारी प्रतिष्ठा को हर्गिज धक्का न पहुंचेगा। अगर प्रतिष्ठा को धक्का लगता हो तो भी परवाह मत करो। ऐसा करने से तुम्हारा आत्मबल बढ़ेगा और तुम अपनी नजरों में आप ही गिरने से बच सकोगे।

ज्ञानीजन कहते हैं, मै दूसरों के दोषों के विषय में क्या कहूं ? मुझ-सा कुटिल और कामनाओं से कलकित दूसरा कौन है ? बस, मुझ-सा पापी मै ही हूं। मुझ-सा कामी अकेला मैं हूं। दुर्गुणों मे मेरी समानता करने वाला और कोई नही है।

ज्ञानवान् पुरुष दूसरों की दलीलों में नही पड़ते। वे अपने आपको अपनी ही तराजू पर तौलते हैं। वे अपने आपको दोष का पात्र प्रकट करते हैं।

चालबाजियों से काम लेने वाले लोग धर्म का मर्म नही समझते। इसीसे उनका पैर सत्य पर नही टिकता। कोई पाप छिपाने का प्रयास करे, भले ही करे, पर पाप छिप नही सकता। उसका कार्य चिल्ला-चिल्ला कर उसके पापों की घोषणा कर देगा। वह बता देगा कि वह पापी है या पुण्यात्मा है !

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया

मुख के द्वारा भोजन किया जाता है, यह तो सभी जानते हैं, पर भोजन पथ्य है या अपथ्य यह जानना भी आवश्यक है। अपथ्य भोजन करने वाले रोगी और परिणामत. दुखी देखे जाते है ? इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक सिद्धि के लिए, चाहे वो व्यावहारिक हो या पारमार्थिक हो, तुच्छ हो या महान हो, ज्ञान और क्रिया दोनों अपेक्षित हैं। जैसे एक चक्र से रथ नहीं चल सकता, इसी प्रकार अकेले ज्ञान और अकेली क्रिया से कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

ज्ञान-रहित क्रिया बहुत बार हानिकारक सिद्ध होती है। इसी प्रकार क्रियारहित ज्ञान तोता-रटत मात्र है। एक आदमी ने तोते को सिखाया कि— 'बिल्ली आवे तो उससे बचना चाहिए।' रट लिये, रटता रहा। एक बार बिल्ली आई और उसने तोते को अपने निर्दय पंजे में पकड़ लिया। उस समय भी तोता यही रटता रहा— 'बिल्ली आवे तो उससे बचना चाहिए।' लोग कहने लगे— मूर्ख तोता ! अब कब बिल्ली आयगी और कब तू बचेगा !

आशय यह है कि तोते को ज्ञान होने पर भी क्रिया के अभाव में वह बच न सका। इस प्रकार क्रियाविहीन ज्ञान निरर्थक होता है।

अगर जीवन मे किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त करनी है तो पहले उसका स्वरूप, उसके साधन और उसके मार्ग

को समीचीन रूप से समझो और, फिर तदनुकूल क्रिया करो। ऐसा किये बिना जीवन सफल नही हो सकता।

बहिर्मुखी बुद्धि से आत्मा का ज्ञान नहीं होगा

●

आज सर्वसाधारण की बुद्धि बहिर्मुखी हो गई है। बुद्धि दृश्यमान भौतिक-पदार्थो को पकड़ने दौड़ रही है। मगर बुद्धि की यह दौड़ आत्मा की परछाई तक नही पा सकती। आत्मा की शोध बुद्धि की सामर्थ्य से परे है। यही नही, बल्कि बुद्धि के द्वारा आत्मा का कल्याण भी होना संभव नही है।

पाश्चात्य लोगों ने बुद्धि द्वारा बाह्य—भौतिक पदार्थो का खूब विकास किया है। रेडियो की बदौलत अमेरिका में गाया हुआ गीत भारत में बैठे-बैठे सुन सकना क्या छोटी बात है? इस प्रकार क्या बाह्य-पदार्थो की शोध में और उनका विकास करने में बुद्धि का उपयोग करने के कारण बुद्धि वहिर्मुखी हो गई है। और बहिर्मुखी बुद्धि वाले आत्मा की खोज नही कर सकते। यही नही, कुछ लोग तो वहिर्मुखी बुद्धि के प्रभाव से प्रभावित होकर यहा तक कहने का साहस करते हैं कि आत्मा कोई चीज ही नही! ऐसे लोग, बुद्धि के द्वारा भौतिक पदार्थो के सानिध्य में

इतने अधिक आ गये है कि उनकी दृष्टि में भौतिक पदार्थों के सिवाय कोई वस्तु ही नही है। यह भ्रम इसी कारण उत्पन्न हुआ है कि बुद्धि बहिर्मुखी हो गई है। यदि बुद्धि को बहिर्मुखी न बनाकर अन्तर्मुखी बनाया जाय तो वही बुद्धि आत्मोन्मुख बन सकती है। बुद्धि को अन्तर्मुखी बनाने वाले महात्मा आज भी भारतवर्ष मे मौजूद हैं। ऐसे महात्मा मौजूद न होते तो जगत् में प्रलय न मच जाता ? प्राचीनकाल के महात्माओ ने बुद्धि को भौतिक पदार्थों से विमुख रखकर अन्तर्मुखी बनाया था। उन्होंने कहा था— इन दृश्यमान बाह्य पदार्थों में ही विश्व की परिसमाप्ति नही हो जाती। इन भौतिक पदार्थों से परे एक वस्तु और भी विश्व मे विद्यमान है। और वह आत्मा है। वह आत्मा शाश्वत है——सनातन है।

उदपुर में एक वकील महाशय के साथ मेरा वार्तालाप हुआ। वकील महाशय प्रत्यक्षवादी थे। वह आत्मा को प्रत्यक्ष दिखाने के लिए कहते थे। मैने उनसे पूछा—— 'आप अंग्रेजी पढे है ?' वकील बोले—— 'जी हाँ।' मैंने कहा—— आप अपने मस्तिष्क में से अंग्रेजी निकालकर दिखाइए तो सही वह कैसी है ?' वकील निरुत्तर रहे। मैंने उनसे कहा—— 'जब आप अपने मस्तिष्क में से अंग्रेजी निकालकर नही बता सकते। तो फिर अमूर्त्त आत्मा को किस प्रकार बताया जा सकता है ?'

ज्ञान का प्रसार करो।

भाइयो और बहिनो ! इस बात को याद रखो कि ज्ञानयुक्त क्रिया के बिना और क्रियायुक्त ज्ञान के बिना धर्म और संसार को नही जान सकते। अतएव जो भी क्रिया सामने आवे उस पर विचार करो कि यह क्रिया मैंने की है या नही ? अगर नही की तो उस पर मै अभिमान कैसे कर सकता हूं। इस प्रकार विचार कर उस क्रिया का बदला देने की भी चिन्ता रखो। अगर आपने ऐसा नही किया तो सिर पर ऋण चढा रहेगा।

मित्रो ! समय को देखो। युगधर्म को पहचानो। अपनी बुद्धि को विवेक के मार्ग पर चलाओ। ज्ञान के द्वारा निर्धारित किये हुए काम को करने वाले ही विजयी हो सकते है। ज्ञान से निर्णय किये बिना ही काम करने वाले विजय नही प्राप्त कर सकते। अतएव ज्ञान की बडी महिमा है। ज्ञान के बाद ही सम्यक् क्रिया आती है। शास्त्रकारों ने ज्ञान को पहले स्थान दिया है और उसके बाद क्रिया को। आप लोग आज ज्ञान को भूल रहे है, ज्ञान की कोई आवश्यकता नही समझते और कद्र भी नही करते, लेकिन ज्ञान से उत्तम कोई वस्तु नही है।

अत ज्ञान का प्रचार करने का उद्योग कीजिए। ज्ञान की वृद्धि उन्नति का मूल मन्त्र है। आपके पास जो भी शक्ति हो, ज्ञान के प्रचार में लगाइए। इतना भी न कर सके तो कम-से-कम ज्ञान और ज्ञान-प्रचार का विरोध

मत कीजिए। सच्चे ज्ञान का प्रचार होने पर ही चारित्र के विकास की सम्भावना की जा सकती है।

ज्ञान और चारित्र

संसार की समस्त शिक्षाओं का सार ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति करना है। चारित्र को आचरण भी कहते है, मगर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर दोनों में थोडा-सा अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है। चरित्ररूप गुणों की आराधना करने की जो विधि बतलाई गई है उस विधि के अनुसार चारित्र को पालन करना आचरण कहलाता है। विधिपूर्वक चारित्र का पालन न करने से काम नहीं चलता। विधिपूर्वक चारित्र के पालन करने का अर्थ यह है कि चारित्र का पालन ज्ञानपूर्वक ही होना चाहिए। ज्ञान के साथ पाला जाने वाला आचार ही उत्तम आचार है। वही आचार सफल होता है। ज्ञानहीन आचरण और आचरणहीन ज्ञान से उद्देश्य सिद्ध नही होता। कल्याण को अगर रथ मान लिया जाय तो ज्ञान और चारित्र उसके दो पहिये हैं।

शास्त्र में चारित्र की बड़ी महिमा प्रकट की गई है। लेकिन कोई अगर कोरी क्रिया को ही पकड़ कर बैठ जाय

और वह क्रिया ज्ञानयुक्त न हो तो जैसे अन्धे और पगु के सहयोग के विना फल की प्राप्ति नही होती उसी प्रकार ज्ञान के सयोग के बिना की जाने वाली क्रिया से भी फल की प्राप्ति नही होती ।

इसलिए सूत्र में कहा गया है—

पढ़म नाण तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसजए ।

अर्थात्— पहले ज्ञान की आराधना करनी चाहिए और उसके बाद चारित्र की आराधना हो सकती है। सभी संयमवान् महापुरुष ऐसा ही करते है । वे बिना ज्ञान के चारित्र की आराधना करना सभव नही मानते। इस प्रकार चारित्र की आराधना करने से पहले ज्ञान की आराधना करना आवश्यक बतलाया गया है ।

निर्माणकारी शिक्षा

मित्रो ! शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे गरीबों का हित हो । व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को समझे, उसे विकसित करे और धीरे-धीरे उसका दायरा विशाल से विशालतर होता चला जाय । शिक्षा का फल यह नही है कि शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति निर्बलों, अशिक्षितों गरीबो का

भार रूप बने। अपनी विलासिता की वृत्ति में वृद्धि करके दूसरों को चूसे। जिस शिक्षा की बदौलत गरीबों के प्रति स्नेह, सहानुभूति और करुणा का भाव जागृत होता है, जिससे देश का कल्याण होता है और विश्वबन्धुता की ज्योति अन्त करण में जाग उठती है, वही सच्ची शिक्षा है।

भारत में शिक्षा की बहुत ही कमी है। जो शिक्षा दी भी जाती है, वह इतनी निकम्मी है कि शिक्षा प्राप्त करने वाले युवक किसी काम के नही रहते। वे गुलामी के लिए तैयार किये जाते है और गुलामी में ही अपने दिन व्यतीत करते है। उनका अपनापन अपने तक या अधिक-से-अधिक अपने सकीर्ण परिवार तक ही सीमित रहता है। उससे आगे की बात उनके मस्तिष्क मे प्राय. कभी आती ही नही है। वे अपने को समाज का अग मानकर समाज के श्रेय मे अपना श्रेय एव समाज के अमगल मे अपना अमगल नही मानते। समाज मे व्यक्ति का वही स्थान है जो जलाशय में एक जल-कण का होता है। जल-कण जलाशय से अपने आपको भिन्न माने तो क्या यह ठीक है? इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति जब सामाजिक भावना से हीन हो जाता है, अपनी सत्ता स्वतन्त्र और निरपेक्ष समझने लगता है, तब समाज का उत्थान रुक जाता है, राष्ट्र की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। ऐसे लोगों से विश्वसेवा की आशा ही क्या की जा सकती है?

अगर तुम अपने अनुभवी शिक्षकों से अपने लिए सत्साहित्य का चुनाव करा लोगे तो तुम्हारा बडा लाभ होगा। इसमे तुम्हारे पथभ्रष्ट होने की सम्भावना नही

रहेगी। तुम्हारा मस्तक गंदगी का खजाना नही बन पायगा।

बालकों की शिक्षा : संरक्षक का कर्त्तव्य

●

सच्ची शिक्षा है— बालक की दबी हुई शक्तियों को प्रकाश में ले आना, सोई हुई शक्तियों को जगा देना, बालक के मस्तिष्क को विकसित कर देना, जिससे वह स्वयं विचार की क्षमता प्राप्त कर सके। मगर इस तथ्य को कम शिक्षक ही समझते है। इस पर भी एक बडी कठिनाई यह है कि संस्कार-संशोधन की ओर आजकल बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। आज की शिक्षा का लक्ष्य विद्वान बना देना भर है, चारित्रशीलता से उसे कोई सरोकार नही। ज्ञान में ही जीवन की कृतार्थता समझी जाती है! मगर जीवन के वास्तविक उत्कर्ष के लिये उच्च और उज्ज्वल चरित्र की आवश्यकता है। चारित्र के अभाव में जीवन की संस्कृति अधूरी ही नही शून्य रूप है। यही कारण है कि इस शिक्षा के फल-स्वरूप शिक्षित लोग धर्म से दूर जा पडते है।

सन्तान के प्रति माता-पिता का क्या कर्त्तव्य है, और उन पर कितना महान् उत्तरदायित्व है, यह बात

माता-पिता को भली-भांति समझ लेनी चाहिये। सन्तान का सुख ससार में बड़ा सुख माना जाता है, तथापि सन्तान को अपने मनोरंजन और सुख का साधन मात्र बनाकर उसकी स्थिति खिलौना जैसी बना देना उचित नही है। जो माता-पिता बालक के प्रति अपने उचित कर्त्तव्य का पालन नही करते, वे अपने उत्तरदायित्व से च्युत होते है। माता-पिता बालक को गुड़ियों की तरह सिगार कर और अच्छा भोजन देकर छुट्टी नही पा सकते। जिसे उन्होंने जीवन दिया है, उसके जीवन का निर्माण भी उन्हें करना है और जीवन निर्माण का अर्थ है सस्कार-सम्पन्न बनाना और बालक की विविध शक्तियों का विकास करना। शक्तियो का विकास हो जाने पर सन्मार्ग में लगे, सत्कार्य में उनका प्रयोग हो और दुरुपयोग न हो, यह सावधानी रखना भी माता-पिता का कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य की पूर्ति के लिये धार्मिक शिक्षा देने की अनिवार्य आवश्यकता है।

मानो नहीं बल्कि आचरण में उतारो

●

हम जिस मार्ग पर संसार को जगा कर ले जाना चाहते है उस मार्ग के पथिक कुटुम्ब सहित बन जाएँगे तो ससार उस मार्ग पर चलने के लिए उद्यत होगा। लोगों को उस मार्ग की महत्ता का खयाल आ जायगा।

आप लोग गुरुकुलों और विद्यालयों की प्रशंसा करते हैं, समय-समय पर उनके सचालन के लिए आर्थिक सहायता भी देते है, पर अगर आप सचमुच ही उन्हें कल्याणकारी समझते है तो उन सस्थाओं में अपने वालकों को प्रविष्ट क्यों नही कराते ? प्राय. गरीबों के ही बालक उन सस्थाओं में क्यो है ? अपने लडकों को पढाने के लिए आप दूसरी जगह भेजे और दूसरों के लडकों के लिए उन्हे अच्छी बतावे, यह कौनसा न्याय है ? ऐसी स्थिति में यह सस्थाएँ अच्छी कैसे मानी जाएँगी और इन मे पर्याप्त धन भी कहाँ से आयगा ?

तात्पर्य यह है कि जिसे तुम कर्त्तव्य मानते हो, उसे केवल मानते ही न रहो—बल्कि आचरण मे उतारो। अपने कत्तव्य की भावना को व्यवहार मे लाने की चेष्टा करो।

हमारा श्रावकवर्ग दुनियादारी के पचडों में इतना अधिक फँसा रहता है और उसमें शिक्षा का भी इतना अभाव है कि वह समाज-सुधार की प्रवृत्ति को यथावत् सचालित नही कर सकता। श्रावकों में धर्म-सम्बन्धी ज्ञान भी इतना पर्याप्त नही है, जिससे वे धर्म का लक्ष्य रख कर, धर्ममर्यादा को अक्षुण्ण वनाये रख कर, तदनुकूल समाज-सुधार कर सके। कदाचित् कोई विद्वान श्रावक मिलता भी है तो उनमे श्रावक के योग्य आदर्श चरित्र और कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना पर्याप्त रूप मे नही पाई जाती। वह गृहस्थी के पचडो मे पड़ा हुआ होता है, अतएव उसकी आवश्यकताए प्राय अन्य सामान्य श्रावको के समान ही

होती है । ऐसी स्थिति में वह अर्थ के धरातल से ऊंचा नहीं उठ पाता और जो व्यक्ति अर्थ के धरातल से ऊपर नही उठा है, उसमें निस्पृह, निरपेक्ष भाव के साथ समाज-सुधार के आदर्श कार्य को करने को पूर्ण योग्यता नही आती ।

सबसे महान बल

संसार में सब को सब की आवश्यकता है । किसी को तनबल की आवश्यकता है, किसी को मनोबल की, किसी को धनबल की और किसी को राज्य, पचायत या परिवार-बल की आवश्यकता है ।

लेकिन आत्मबल में अद्भुत शक्ति है । इस बल के सामने ससार का कोई भी बल नही टिक सकता । इसके विपरीत जिसमे आत्मबल का सर्वथा अभाव है वह अन्यान्य बलों का अवलबन करके भी कृत-कार्य नही हो सकता । मृत्यु के समय अनेक क्या अधिकांश लोग दुःख का अनुभव करते हैं । मृत्यु का घोर अन्धकार उन्हे विह्वल बना देता है । बड़े-बड़े शूरवीर, योद्धा, जो समुद्र के वक्षस्थल पर क्रीडा करते है, विशाल जलराशि को चीर कर अपना मार्ग बनाते है और देवताओ की भाति आकाश में विहार करते है, जिनके पराक्रम से ससार थर्राता है, वे मृत्यु को समीप

आता देखकर कातर बन जाते है, दीन हो जाते है। लेकिन जो महात्मा है वे मृत्यु का आलिगन करते समय रचमात्र भी खेद नही करते। मृत्यु उनके लिये सघन अन्धकार नही है, वरन् स्वर्ग-अपवर्ग की ओर ले जाने वाले देवदूत के समान प्रतीत होती है। इसका कारण क्या है? इसका एकमात्र कारण आत्मबल है।

आत्मबल सब बलों में श्रेष्ठ है; यही नही वरन् यह कहना भी अनुचित न होगा कि आत्मबल ही एकमात्र सच्चा बल है। जिसे आत्मबल की लब्धि हो गई है उसे अन्य बल की आवश्यकता नही रहती।

इस बल को प्राप्त करने की क्रिया है तो सीधो-सादी, लेकिन क्रिया करने वाले का अन्त करण सच्चा होना चाहिए। वह क्रिया यह है कि अपना बल छोड़ दो। अर्थात् अपने बल का जो अहंकार तुम्हारे हृदय मे आसन जमाये बैठा है, उस अहकार को निकाल बाहर करो। जब तक तुम ऐसा न करोगे, अपने बल पर अर्थात् अपने शरीर बुद्धि या अन्य भौतिक साधनों के बल पर निर्भर रहोगे, तब तक आत्मबल प्राप्त न हो सकेगा।

अपने पर भरोसा रखो

●

आप अपनी उद्योगशीलता को भूल रहे हैं। आपने अपनी क्षमता की ओर से दृष्टि फेरली है। आप अपने आपको अकिंचित्कर मान बैठे है। यह दीनता का भाव दूर करो। अपनी असीम शक्ति को पहचानो। सच्चे वीर-भक्त हो तो अपने को कर्त्ता–कार्यक्षम मानकर कल्याण मार्ग के पथिक बनो।

किसी भी दूसरे की शक्ति पर निर्भर न बनो। समझ लो तुम्हारी एक मुट्ठी में स्वर्ग है, और दूसरी में नरक है। तुम्हारी एक भुजा में अनन्त संसार है और दूसरी भुजा में अनत मगलमयी मुक्ति है। तुम्हारी एक दृष्टि में घोर पाप है और दूसरी दृष्टि में पुण्य का अक्षय भडार भरा है। तुम निसर्ग की समस्त शक्तियों के स्वामी हो, कोई भी शक्ति तुम्हारी स्वामिनी नही है। तुम भाग्य के खिलौना नही हो, वरन् भाग्य के निर्माता हो। आज का तुम्हारा पुरुपार्थ कल भाग्य बन कर दास की भांति, तुम्हारा सहायक होगा। इसलिए ऐ मानव ! कायरता छोड दे। अपने ऊपर भरोसा रख। तू सब कुछ है, दूसरा कुछ नही है। तेरी क्षमता अगाध है। तेरी शक्ति असीम है। तू समर्थ है। तू विधाता है। तू ब्रह्मा है। तू शङ्कर है। तू महावीर है। तू बुद्ध है।

निर्माण के लिए मात्र योजनायें नहीं बनाओ

●

यह सदैव याद रखो-- जब तक संघ के अभ्युदय के लिए श्रावको में त्याग का भाव प्रदर्शित नही होगा और जब तक सतों की समाचारी एक नही हो जाएगी तब तक कोई योजना पूरी नही हो सकती है। योजना योजना के रूप में वनी रहेगी। निराधार कल्पना वनी रहेगी।

यह सदैव याद रखो-- कागज पर लिखे हुए प्रस्तावो और निर्णय के मोहजाल मे फसने से कुछ भी लाभ न होगा। आज तक न जाने कितने सुन्दर-सुन्दर प्रस्ताव विभिन्न सम्मेलनो मे बने और जिन्हे स्वीकृत करके अपनी-अपनी फाइलों मे रख छोड़ा है। उन प्रस्तावों से जनता का कुछ लाभ नही हुआ और न हो सकेगा। प्रस्ताव वही लाभदायक होते हैं जो ठोस बुनियाद पर स्वीकार किये जाते है और कार्यरूप में परिणत किये जाते हैं। ऐसा होने से ही सघ का श्रेय हो सकता है, उन्नति हो सकती है एव श्रम का पुरस्कार मिल सकता है।

यह सदैव याद रखो--दूसरो को उपदेश और आदेश देना सरल है और वह भी तभी तक जब अपने आप पर नही आन वनती है। मगर जब अपने पर आन वनती है तो उपदेश देने वाले चुप्पी साध लेते है। यही नही, विरोध करते है और जहा तक वश चलता है, रुकावटे डालने से भी नहीं चूकते।

यह सदैव याद रखो-- अपराध और दोषों का

परिहास पश्चात्ताप की कसौटी पर आत्मनिरीक्षण करने से होगा, न कि दूसरों पर अपना वर्चस्व लादने या उनकी अवहेलना करने से ।

उपवास स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है

एकवार भारतवर्ष ने उपवास के गुण समस्त ससार को बतलाये थे । आज वही भारतवर्ष दिनो-दिन उसके महत्त्व को भूलता जा रहा है ।

जैन सिद्धान्त और वैदिक साहित्य भी मुक्तकठ से तप की महिमा का वखान करता है । उपवास इन्द्रियो की रक्षा करने वाला है । धर्मसाधना का सवल साधन है । इन्द्रियों के चाचल्य का निग्रह उपवास से ही होता है ।

मनुष्य हमेशा खाता है । सावधानी रखने पर भी कही भूल हो जाना अनिवार्य है । प्रकृति भूल का दण्ड देने से कभी नही चूकती । किसी और से आप अपने अपराधो की क्षमा करा सकते है पर प्रकृति के दण्ड से आप किसी भी प्रकार नही वच सकते । अगर आप प्रकृति के किसी कानून को तोड़ते है तो आपको तुरन्त उसका दण्ड भागने के लिए उद्यत रहना होगा । आप दूसरों की आखों

मे धूल झोंक सकते है पर प्रकृति के आगे आपकी एक भी नही चलेगी। प्रकृति के कानून अटल-अचल हैं। उनमें तनिक भी हेरफेर नही हो सकता।

ऐसी स्थिति में भोजन में भूल हुई नही कि कोई-न-कोई रोग आ धमकता है। उस रोग के प्रतिकार का सरल और सफल उपाय उपवास ही है। आपने उपवास किया और रोग छूमन्तर हुआ। अगर आपको कोई रोग नही है तो भी उपवास करने का अभ्यास लाभदायक ही है।

आप हमेशा भोजन करते है। आंते उस भोजन को पचाती है। आते अविश्रान्त रूप से काम करते-करते थक जाती है। अगर बीच मे कभी-कभी उन्हे विश्राम मिल जाया करे तो उनमे नवीन शक्ति आ जाएगी।

अपने नियम के अनुसार प्रकृति जितने मनुष्यों को उत्पन्न करती है, उनके खाने के लिए भी वह पैदा करती है। पर मनुष्य अपनी धीगा-धीगी से, आवश्यकता से अधिक खा जाता है--ठूस-ठूस कर पेट भरता है। इस प्रकार अकेले भारतवर्ष ने ६ करोड़ मनुष्यों की खुराक को छीन कर उन्हे भूखे मारने का पाप अपने सिर ले लिया है। भारत मे तैंतीस करोड़ मनुष्य है। इसमे से छह करोड़ को अलग कर सत्ताईस करोड़ मनुष्य महीने में छह उपवास करने लगे तो क्या इन छह करोड़ भूखों को भोजन नही मिल सकता? (अब भारत की जनसख्या ४७ करोड है।
—संपादक

उपवास हिंसा नहीं है

कुछ लोग कहते है— 'जैनधर्मानुयायी आहार का त्याग करते हैं, यह भी हिसा का एक प्रकार है। आहार का त्याग करना और मरना दोनों समान है। आहार के विना शरीर टिक नही सकता। जब भूख लगती है और भोजन नही किया जाता तब शरीर का रक्त-मास ही भूख का खाद्य बन जाता है। अतएव आहार का त्याग करना हिंसा है।

यह विचार भ्रमपूर्ण धारणा का परिणाम है। वास्तविक वात यह है कि जैसे आहार करना शरीर रक्षा के लिये आवश्यक है, उसी प्रकार आहार का त्याग करना— उपवास करना भी जीवन-रक्षा के लिये आवश्यक है। आज अनेक स्वास्थ्य-शास्त्री उपवास का महत्त्व समझकर उसे प्राकृतिक चिकित्सा में प्रधान स्थान देते है। उपवास करने से शरीर कृश अवश्य होता है, परन्तु उस कृशता से शरीर को किसी प्रकार की हानि नही पहुचती। शरीर की कृशता, शरीर के सामर्थ्य के ह्रास का प्रमाण नही है। वैज्ञानिक पद्धति से दूध को सुखाकर उसका एक पदार्थ वना लिया जाता है और फिर उस पदार्थ का पानी में मिश्रण करने से फिर दूध तैयार हो जाता है, फिर भी दूध की शक्ति नष्ट नही होती। इसी प्रकार उपवास करने से शरीर सूख जाता है, फिर भी शारीरिक शक्ति नष्ट नही होती। इसके विपरीत यदि उपवास विधि-पूर्वक किया जाय और उपवास की समाप्ति के पश्चात शीघ्र आहार की वृद्धि न

की जाय तो शरीर की कृशता ही दूर न हो जायेगी वरन् शरीर के रोग भी समूल नष्ट हो जाएंगे। यह बात केवल कल्पना के सहारे नहीं कही जा रही है। इसका आधार प्रत्यक्ष अनुभव है। इस बात की सच्चाई में जिसे सन्देह हो वह अपने शरीर का वजन करके एक दिन का उपवास कर डाले। उपवास के दूसरे दिन फिर वजन करके देखे तो प्रतीत होगा कि उपवास से शारीरिक शक्ति को तनिक भी हानि नहीं पहुंचती।

अतएव उपवास के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भ्रम न रहे और वह विधि-पूर्वक किया जाय, यह आवश्यक है।

दयां कुर्वन्तु साधवः

विचार कर देखा जाये तो ज्ञात होगा कि संसार की स्थिति दयादेवी के अनुग्रह पर ही निर्भर है। ससार मे दयादेवी का राज्य न होता तो ससार श्मशान के समान भयानक होता और जीवधारियों का जीवन दुर्लभ बन जाता। माता अपने पुत्र का, संतान अपने माता-पिता का और एक आदमी दूसरे आदमी का रक्षण नहीं करेगा। परोपकार, पारस्परिक सहकार, क्षमा, सेवा आदि दिव्य भावनाये भूतल से उठ जायेगी।

दया के विषय में इस हाथ दे, उस हाथ ले की कहावत पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। अन्तगड़ सूत्र में यही कहा है और अन्य शास्त्रों मे भी यही बात कही है कि दयादेवी का शरण ग्रहण करने वाला कभी अपमानित नही होगा।

गीता में यही कहा है कि अत्यन्त अल्प दया धारण करने से भी प्राणी महापाप और महाभय से बच जाता है।

मित्रो ! दया का दर्शन करना हो तो गरीब और दुखी प्राणियो को देखो ! देखो, न केवल नेत्रों से, वरन हृदय से देखो। उनकी विपदा को अपनी ही विपदा समझो और जैसे अपनी विपदा का निवारण करने के लिये चेष्टा करते हो वैसे ही उनकी विपदा के लिये यत्नशील बनो। इस भव्य भावना को जिह्वा से न बोलो, वरन इन भावना मे जो उत्कृष्ट भाव भरे है उन्हें हृदय में स्थान दो। प्राणीमात्र के प्रति मैत्री का भाव रखो और सच्चे मित्र की तरह व्यवहार करो।

अगर आपके अन्त करण में दया का वास होगा तो आप ऐसे वस्त्र नही पहनेगे जिनसे ससार में बेकारी और गरीबी वढती है। आप ऐसा भोजन नही करेगे जिससे आपके भाइयो को भूखों तड़फ-तड़फ कर मरना पड़ता है। आप उनकी सहायता करेगे और उन पर अहसान का बोझा नही लादेगे वरन उनका उपकार करके अपने आपको उपकृत समझेगे।

दान वीरता का कार्य है !

●

दान, तप और सग्राम ये तीनों ही कार्य वीरता होने पर होते है । जो वीर नही वरन् कायर हैं, वे इन तीनों में से किसी एक को भी नही कर सकते । जो पहले ही शत्रुओं के अस्त्राघात से, मृत्यु से और गृह-कुटुम्व के कष्ट-मय भविष्य से भय करता है, वह संग्राम में कदापि स्थिर नही रह सकता । शरीर के कष्ट, शीत, ताप और वर्षा के कष्ट सहने और सांसारिक मोह के त्यागने में जो वीर नही है वह तप नही कर सकता । इसी प्रकार जिसे स्वय अपने ही पेट की चिन्ता है, जिस पर लोभ का पूरा प्रभाव जम गया है, जिसे अपने और अपने स्त्री-पुत्रादि का भवि-ष्य दुखमय होने का भय है, वह दान नही कर सकता ।

सारांश यह कि दान करना वीरता का काम है, कायर लोग दान नही कर सकते । जिस प्रकार संग्राम के लिए वीरता चढ़ने पर उसे सिवा शत्रुओ के आघात का प्रतिकार करने के और कुछ नही सूझता— अस्त्र लगने, मृत्यु होने और पीछे से घर के लोगों के रोने आदि की चिन्ता नही होती— जिस प्रकार तप के लिए वीरता चढने पर उसे वैराग्य ही सूझता है, वैराग्य से कष्ट, स्त्री-पुत्र-गृह आदि का विद्रोह नही सूझता— ठीक इसी प्रकार जिसे दान की वीरता चढ़ती है उसे अपने भविष्य के कष्ट की चिन्ता नही होती, न वह किन्ही और बातों को ही विचारता है ।

धन की दान, भोग और नाश ये तीन गतियें हैं। जो अपने धन को न दान में लगाता है, न भोग में उसके धन की तीसरी गति नाश अवश्य होती है।

हे भद्र पुरुषो !

हे भद्रपुरुषो ! तुम जिस प्रकार सांसारिक व्यवहार को महत्व देते हो, उसी प्रकार आध्यात्मिक और तात्विक बात को भी महत्व दो। तुम व्यवहारिक कार्यों में जैसा कौशल प्रदर्शित करते हो वही आध्यात्मिक कार्यों मे क्यों नही दिखलाते ?

वे गृहस्थ धन्य है जिनके हृदय में दया का वास रहता है और दुखी को देखकर अनुकम्पा उत्पन्न होती है। जो यह समझते है कि मै यहा केवल उपकार करने के लिए आया हूं। मेरा घर तो स्वर्ग में है।

बढ़िया खाना और पहिनना एवं जीभ का गुलाम बन जाना पुण्यशाली का लक्षण नही है। पुण्यवान बनने के लिए जीभ पर अंकुश रखना पड़ता है।

लोग सवेरे दान करके शाम को दान का फल प्राप्त करना चाहते हैं। मगर फल के लिए अधीर हो उठने से

पूरा और वास्तविक फल मिलता ही नही है। फल की कामना फल-प्राप्ति में बड़ी भारी बाधा है।

गरीब की आत्मा में शुद्ध भावना की जो समृद्धि होती है, वह अमीर की आत्मा में शायद ही कही पाई जाती है। प्रायः अमीर की आत्मा दरिद्र होती है और दरिद्र की आत्मा अमीर होती है।

तुम अपनी कृपणता के कारण धन का व्यय नही कर सकते पर धन तुम्हारे प्राणों का भी व्यय कर सकता है।

हे दानी! तू दान के बदले कीर्ति और प्रतिष्ठा खरीदने का विचार मत कर। अगर तेरे अन्तःकरण में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ है तो समझ ले कि तेरा दान, दान नही है; व्यापार है।

ससार के समस्त झगडों की जड़ क्या है? असली जड़ का पता लगाया जाय तो प्रतीत होगा कि सबलो द्वारा निर्बलों का सताया जाना ही सब झगड़ों का मूल है। तू सताये जाने वाले निर्बलो का समर्थ सहायक बनना, यही मेरा उपदेश है और यही मेरा आशीर्वाद है।

बडों के बडप्पन को सौ गुनाह माफ समझे जाते है। परन्तु मै कहता हूं कि संसार में अधिक दोष बड़े कहलाने वालो ने ही फैलाये है।

बड़प्पन की जिम्मेदारी

लोग बड़ा बनना चाहते हैं। छोटा होना कोई पसद नही करता। वे यह नही देखते कि बड़े का बड़प्पन किस पर टिका है ? बड़े का बड़प्पन छोटे के छुटपन पर टिका है या बड़ा आप ही बड़ा बन गया है ? एक पर एक लगाने से ग्यारह हो जाते है अर्थात् दस गुनी वृद्धि हो जाती है। अब अगर पहला एक अकेला ही रहना चाहे और दूसरे एक को न रहने दे तो वह एक ही रह जाएगा। उसकी दस गुनी वृद्धि नष्ट हो जाएगी। इसी प्रकार जो बड़ा बनकर छोटे को नष्ट कर देना चाहता है—छोटे को भुला डालना चाहता है, उसका बडप्पन कायम नही रह सकता। उसकी शक्ति का ह्रास हुए बिना रह नही सकता। इससे विषमता भी फैलेगी। सघर्ष भी होगा, अशाति की आग भी भडक उठेगी और दु.ख का दावानल भी सुलग उठेगा। अगर बड़े और छोटे, एक-दूसरे की सुख-सुविधा का खयाल रखकर चलेगे तो आनन्द होगा और विषमता का विष नही व्यापेगा। एक और एक ग्यारह तभी होते हैं जब दोनों समश्रेणी में हों। अगर दोनों में ऊचाई-निचाई हो तो उनका योग ग्यारह होगा ? इसी प्रकार मानव-समाज में से जब ऊच-नीच का भेद मिटेगा, सब समान रूप से मिलकर रहेगे तभी समाज की शक्ति बढेगी। इसी मे सबकी शोभा है।

साराश यह है कि जो बड़ा बनता है वह छोटों की

सुख–सुविधा का पहले विचार करता है और उनकी रक्षा के लिये जिम्मेवार बनता है। असल में बड़ा वही है जो छोटों की रक्षा के लिये ही अपने वड़प्पन का उपयोग करता है और उनकी रक्षा में ही अपने वड़प्पन की सार्थकता समझता है। जो छोटों की रक्षा के लिये अपने वड़प्पन का बिना किसी हिचकिचाहट के त्याग नही कर सकता वह बडा नही कहा जा सकता। वंड़प्पन छोटों के प्रति एक प्रकार का बड़ा उत्तरदायित्व है जो स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है। वड़प्पन सुख-सुविधा के उपयोग में नही, उसके त्याग में है। छोटों को गिराने में नही, उठानें में है।

सुख पाना है तो त्याग करो

●

गेंद-दडा के खेल में गेद एक होती है, खेल खेलनें वाले बहुत होते हैं। जिसके पास गेंद जाती है वह दूसरे के पास उसे धकेलता है। ऐसा करने से ही खेल का रग जमता है। एक ही व्यक्ति गेंद को पकड़ कर बैठ जाय तो खेल का मजा नही आ सकता। इसके सिवाय क्या दूसरे खिलाड़ी उसे ऐसा करनें देगे ? नही ! वह उससें बलपूर्वक गेंद छीन लेगे।

इसी प्रकार सम्पत्ति के सम्बन्ध में समझना चाहिए। तुम्हारे पास जो सम्पत्ति है वह तुम कहां से लाये हो ? वह आकाश से तुम्हारे आंगन में नहीं टपक पड़ी है। तुमने उसे यहीं से एकत्र किया है, फिर भी दुःखी और निर्धनों की तरफ तुम्हारा ध्यान कभी जाता है? अगर नहीं जाता तो यही कहना चाहिए कि तुम अकेले ही गेंद पकड़ रखना चाहते हो। सम्पत्ति की जो शक्ति तुम्हें प्राप्त हुई है वह अगर दूसरों को देते रहोगे तो वह उसी प्रकार लौट आवेगी जैसे खिलाडियों द्वारा गेंद लौट आती है अगर तुम उसे पकड़ कर, दबाकर बैठ जाओगे तो उसी प्रकार छीन ली जायगी जैसे दूसरे खिलाड़ियों द्वारा गेंद छीन ली जाती है। रूस मे क्या हुआ था ? लोगों ने सम्पत्ति अपनी मान ली थी और उसे दबाकर बैठ गये थे। गरीबों की तरफ उनका ध्यान नहीं था। जब लोग बहुत अधिक दुखी हो गये तो विद्रोह की चिनगारियां प्रज्वलित हो उठी। अन्त में पूंजीवाद का अन्त हुआ। इस इतिहास से शिक्षा ग्रहण करो। धर्म का भी यही आदेश है कि पूंजी को पकड़ मत बैठे रहो। ऐसा करने से इस लोक में भी दुख मिलेगा और परलोक में भी।

सुख–सुविधा का पहले विचार करता है और उनकी रक्षा के लिये जिम्मेवार बनता है। असल में बड़ा वही है जो छोटों की रक्षा के लिये ही अपने बड़प्पन का उपयोग करता है और उनकी रक्षा में ही अपने बड़प्पन की सार्थकता समझता है। जो छोटों की रक्षा के लिये अपने बडप्पन का बिना किसी हिचकिचाहट के त्याग नही कर सकता वह बडा नही कहा जा सकता। बड़प्पन छोटों के प्रति एक प्रकार का बड़ा उत्तरदायित्व है जो स्वेच्छा से स्वीकार किया जाना है। बड़प्पन सुख-सुविधा के उपयोग में नही, उसके त्याग मे है। छोटों को गिराने में नही, उठानें में है।

सुख पाना है तो त्याग करो

●

गेंद-दडा के खेल में गेद एक होती है, खेल खेलनें वाले बहुत होते हैं। जिसके पास गेद जाती है वह दूसरे के पास उसे धकेलता है। ऐसा करने से ही खेल का रग जमता है। एक ही व्यक्ति गेंद को पकड़ कर बैठ जाय तो खेल का मजा नही आ सकता। इसके सिवाय क्या दूसरे खिलाड़ी उसे ऐसा करनें देगे? नही! वह उससे बलपूर्वक गेंद छीन लेगे।

इसी प्रकार सम्पत्ति के सम्बन्ध में समझना चाहिए। तुम्हारे पास जो सम्पत्ति है वह तुम कहां से लाये हो? वह आकाश से तुम्हारे आंगन में नहीं टपक पड़ी है। तुमने उसे यहीं से एकत्र किया है, फिर भी दुःखी और निर्धनों की तरफ तुम्हारा ध्यान कभी जाता है? अगर नहीं जाता तो यही कहना चाहिए कि तुम अकेले ही गेंद पकड़ रखना चाहते हो। सम्पत्ति की जो शक्ति तुम्हें प्राप्त हुई है वह अगर दूसरों को देते रहोगे तो वह उसी प्रकार लौट आवेगी जैसे खिलाड़ियों द्वारा गेंद लौट आती है अगर तुम उसे पकड़ कर, दबाकर बैठ जाओगे तो उसी प्रकार छीन ली जायगी जैसे दूसरे खिलाड़ियों द्वारा गेंद छीन ली जाती है। रूस में क्या हुआ था? लोगों ने सम्पत्ति अपनी मान ली थी और उसे दबाकर बैठ गये थे। गरीबों की तरफ उनका ध्यान नहीं था। जब लोग बहुत अधिक दुखी हो गये तो विद्रोह की चिनगारियां प्रज्वलित हो उठी। अन्त मे पूंजीवाद का अन्त हुआ। इस इतिहास से शिक्षा ग्रहण करो। धर्म का भी यही आदेश है कि पूंजी को पकड़ मत बैठे रहो। ऐसा करने से इस लोक में भी दुख मिलेगा और परलोक में भी।

संग्रह की भावना सन्ताप की पोषक

कनक और कामिनी की लोलुपता ने संसार को नरक बना डाला है। आजकल मुद्रादेवी ने— सोने, चादी और ताबे आदि के सिक्कों ने कितनी अशांति फैला रखी है। तुम लोग रातदिन पैसे के लिये दौड-धूप करते रहते हो, मगर पैसे का सग्रह करके भी सुख की सास नही ले सकते। पैसे के लिये आपस में लड़ाई-झगड़े होते है, हजारों मनुष्यों का खून बहाया जाता है। इसका वाहरी कारण कुछ भी बताया जाये, पर असली कारण तो द्रव्य के सग्रह की भावना ही है। इतिहास स्पष्ट बतला रहा है कि जब से मानव समाज में सग्रह परायणता जागी है तब से ससार की दयनीय दशा प्रारम्भ हुई है।

मै अपने बचपन की बात कहता हूं। उस समय लोग अन्न आदि कोई वस्तु देकर शाक-भाजी या और कोई आवश्यक वस्तु खरीदते थे। उस समय वस्तुओ का विनिमय होता था— वह वास्तविक विनिमय था। सिक्का तो तब भी था पर आज की भांति उसका अधिक प्रचलन नहीं था। इस कारण अधिक अशांति भी नही थी। सिक्के की वृद्धि के साथ अशाति की वृद्धि हुई है। सिक्का सग्रह करने की मनोवृत्ति ने अशाति का पोषण किया है।

धन व्यावहारिक कार्यो का एक साधन है। धन से व्यवहारोपयोगी वस्तुये प्राप्त की जा सकती है। पर आज तो लोगों ने इस साधन को साध्य समझ लिया है और वे

इसी प्राप्ति में सारा जीवन व्यय कर रहे हैं। तुम इस बात का विचार करो कि धन तुम्हारे लिये है या तुम धन के लिये हो? कहने को तुम कह दोगे कि हम धन के लिये नही हैं। धन हमारे लिये है। पर क्या व्यवहार में भी वहीयात है?

धन के ट्रस्टी बनो

आप लोगों के पास जो द्रव्य है उसे अगर परोपकार में, सार्वजनिक हित में और दीन-दुखियों को साता पहुंचाने में न लगाया तो याद रखना, इसका व्याज चुकाना भी तुम्हें कठिन हो जायगा। ऐसे द्रव्य के स्वामी बन कर आप फूले न समाते होगे कि चलो हमारा द्रव्य बढ़ा है, मगर शास्त्र कहता है और अनुभव उसका समर्थन करता है कि द्रव्य के साथ क्लेश बढा है। जब आप बैंक से ऋण रूप में रुपया लेते है तो उसे चुकाने की कितनी चिन्ता रहती है? उतनी ही चिन्ता पुण्यरूपी बैंक से प्राप्त द्रव्य को चुकाने की क्यों नहीं करते? समझ रक्खो, यह संपत्ति तुम्हारी नही है। इसे परोपकार के अर्थ अर्पण कर दो। याद रखो कि यह जोखिम दूसरे की मेरे पास धरोहर है।

पड़ जायगा ।

अगर आप लोग भी अपनी सम्पत्ति से पाप न करके, उसके ट्रस्टी-भर बने रहो तो क्या उस सम्पत्ति को कुछ दाग लग जायगा ? हां, उस अवस्था में अपने भोग-विलास के लिए उसका दुरुपयोग न कर सकोगे । लेकिन बहुत लोगो की तो ट्रस्टी बनने की भावना ही नही होती। क्या श्रावक की जिन्दगी ऐसी होती है कि वह धन के कीचड में फसा रहे और उससे अपने आत्मा को मलिन बना डाले ? क्या श्रावक को धर्म पर विश्वास नही है ? बैंक पर विश्वास करके उसमें लाखों रुपया जमा करा देने वालो को धर्मरूपी बैंक पर क्या विश्वास नही है ?

तुम धन का त्याग न करोगे तो धन तुम्हारा त्याग कर देगा । यह सत्य इतना स्पष्ट और ध्रुव है कि इसमें लेश मात्र भी सन्देह नही किया जा सकता । ऐसी स्थिति मे विवेकवान् होते हुए भी इतने पामर क्यों बने जा रहे हो ? तुम्ही त्याग की पहल क्यों नही करते ? क्यों स्वत्व के धागे को तोड़कर फैंक नही देते ?

स्वत्व का त्याग कर देना ही द्रव्ययज्ञ है । अपने पास जो है उसे 'इदम् न मम' कहकर परोपकार के निमित्त अर्पित कर दो और अपने आपको सिर्फ उसका ट्रस्टी समझो।

चाहते सभी हैं लेकिन……

संसार का कोई भी प्राणी आशा से अतीत नही है—सभी को आशा लगी हुई है, सभी को भाँति-भाँति की चिन्तायें सता रही है। सभी सुख के अभिलाषी हैं और सभी अरोग्य चाहते है। यह सब आकाँक्षायें प्राणीमात्र में समान हैं। यह बात दूसरी है कि अज्ञान के बस होकर प्राणी अपने दुःख और दुःख के मूल को ठीक तरह न समझा हो या विपरीत समझता हो, लेकिन दुःख से छुटकारा सभी चाहते है।

दुःख से मुक्ति चाहने पर भी जब तक दुःख का वास्तविक स्वरूप और दुःख के असली कारणो को न समझ लिया जाय तब तक जीव की चाह पूरी नही हो सकती। दुःख सम्बन्धी अज्ञान के कारण प्राणी सुख की अभिलाषा से ऐसा उपाय करता है कि सुख पाने के बदले उलटा दुःख का ही भागी बनता है। संसारी जीवों को जो दुःख है उसका प्रधान कारण पर—सयोग है। जहां पर–पदार्थ का संयोग हुआ और उसमें अहंभाव या ममभाव धारण किया कि दुःख की उत्पत्ति होती है। उस दुःख को मिटाने के लिये जीव फिर नवीन पदार्थो का संयोग चाहता है और परिणाम यह होता है कि वह दुःख बढता ही चला जाता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों दवा की जाती है, त्यों-त्यों बीमारी बढती ही जाती है। जब उपाय ही उलटा है तो नतीजा उलटा क्यों नही होगा ? कठिनाई तो यह है कि हम परमात्मा से जो प्रार्थना करते हैं उसका आशय तो है दुःख

दूर करने का, मगर हमारा भ्रम ऐसा है कि हम दुःख के कारणों को ही दुःख दूर करने का कारण समझ बैठते है। इसी भाव से हम प्रार्थना करते है। किसी को निर्धनता का दुःख है, तो किसी को सतान के अभाव का दुःख है, किसी को अपने अपयश की चिन्ता है। इस दुःख को मिटाने के लिए धन चाहिये, सतान चाहिये और यश चाहिये। अज्ञानी पुरुष की धारणा है कि इन वस्तुओं का सयोग होने से ही हमारे दुःख के अकुर सूख जायेगे और हम सुखी हो जायेगे, मगर वास्तविक बात ऐसी नही है। ससार के यह सब पर-पदार्थ हमारे दुःख नाश नही कर सकते। इनमें दु.खदलिनी शक्ति नही है। यही नही बल्कि वास्तव में यही दु.ख के कारण है। ज्ञानीपुरुष अपनी सम्यग् दृष्टि से इनका सत्य स्वरूप समझते हैं। उन्होंने जाना है कि बाह्य पदार्थो के साथ जितने अशों मे आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित किया जायगा उतनी ही दुःख की वृद्धि होगी।

जब तुम्हारी दृष्टि निर्मल हो जायगी और तुम्हे सत्य वस्तुत्व का प्रतिभास् होने लगेगा, तब तुम अपने ऊपर हसे बिना न रहोगे कि वाह ! मुझे परमात्मा की प्रार्थना द्वारा दुःख नाश करना था, मगर मैं चाहता था दुःख के कारण ! मै रोग मिटाने के लिये रोग बढाने वाली औषध का सेवन कर रहा था ! और जब रोग बढता जाता था तो अपने अज्ञान के बदले औषध को कोसता था ! मेरी समझ कैसी सुन्दर थी !

......बंधुता पैदा नहीं की

●

संसार में अनेक प्रकार की क्रांतिया हुई है और हो रही है। किसी ने क्रान्ति के द्वारा साम्य पैदा किया है, किसी ने स्वतन्त्रता प्राप्त की है। लेकिन क्रान्ति द्वारा बन्धुता किसी ने पैदा नही की। बन्धुता पैदा करने का काम भारतवर्ष के हिस्से मे आया है। यद्यपि यह बात सर्वसाधारण को समझाने की आवश्यकता है, फिर भी अगर गभीरता से विचार किया जाय तो मालूम होता है कि जैनधर्म का अन्तिम उद्देश्य, प्रधान सिद्धान्त बन्धुता प्रकट करना है। जैनधर्म मे जिस आचारप्रणालिका का प्रतिपादन किया गया है, उसके अन्तरग की परीक्षा करने से यह बात निर्विवाद हो जाती है। वास्तव में जैनधर्म बन्धुता की शिक्षा देने और उसका प्रचार करने के लिए है।

संसार के सभी मनुष्य समान होकर रहें, इस प्रकार का साम्यवाद कभी समस्त ससार मे फैल सकता है, लेकिन उस समानता के भीतर जब तक बन्धुता न होगी तब तक उसकी नीव बालू पर खडी हुई ही समझना चाहिये। वायु के एक झकोरे से ही साम्यवाद की नीव हिल जायगी और उसके आधार पर निर्मित की हुई इमारत धूल में मिल जायगी। साम्य के सिद्धांत को अगर सजीव बनाया जा सकता है तो केवल उसमें बन्धुता की भावना का सम्मिश्रण करके ही। यही नही बन्धुताहीन साम्यवाद विनाश का कारण बन जाता है। जो कोरा साम्यवाद अपनाने जायगा और बन्धुता को उससे पहले ही नही अपना लेगा, वह

अशान्ति का बीजारोपण ही करेगा ।

बन्धुता किसी ज्ञानी के भाव से ही प्रकट हो सकती है । ज्ञानीजन कहते है कि सुख, दुःख या दवाव से किसी काम को मत करो; किन्तु प्रत्येक कार्य के लिए अपनी आध्यात्मिक शक्ति प्रकट करो । आध्यात्मिक शक्ति में इतना सामर्थ्य और चमत्कार है कि वह दूसरों पर अपना प्रभाव डालकर उन्हें तुरन्त अपने वश में कर लेगी ।

तात्पर्य यह है कि जगत में शांति स्थापित करने के लिए साम्य की आवश्यकता तो है, मगर बन्धुता के विना शान्ति-स्थापना का उद्देश्य पूरा नही हो सकता । साम्य की स्थापना करते समय यदि बन्धुता की प्रतिष्ठा नही की गई तो मारकाट और अशान्ति हुए बिना नही रहेगी ।

बन्धुता का सिद्धान्त समस्त ससार में आदर्श माना जाता है । मानवसमाज ने इस सिद्धान्त के विरुद्ध व्यवहार करके जो बुरे परिणाम भुगते हैं और आजकल भी भुगत रहा है, उन्होंने बन्धुता की भावना की आवश्यकता सिद्ध कर दी है और अब प्रत्येक राष्ट्र उसे प्राप्त करने में गौरव समझता है, भले ही वह उसे प्राप्त करने में अपनी लाचारी अनुभव करता हो ।

उद्योग किये जाओ !

अधिकांश लोग परमात्मा का नाम इसलिये लेते हैं कि उन्हे उद्योग किये बिना ही धन मिल जाय। आलस्य में पड़े रहने पर भी धन मिल जाय तो वे समझते हैं कि भगवान बड़े दयालु हैं ! लेकिन जब उद्योग करना पड़ता है तो भगवान को भूल जाते हैं। मगर याद रखो, भगवान कायरों का साथ नहीं देते। उद्योगी ही उनकी सहायता से सिद्धि प्राप्त करते हैं।

सच्चा पुरुषार्थी कभी हार नहीं मानता। वह अगर असफल भी होता है तो उसकी असफलता ही उसे सफलता प्राप्त करने की प्रेरणा करती है। इसी प्रकार पुरुषार्थी मनुष्य न तो अपनी असमर्थता का रोना रोता है और न कार्य की असभवनीयता का ही विचार करता है। वह अपनी थोड़ी-सी शक्ति को भी समग्रता के साथ प्रयुक्त करता है और कार्य की सिद्धि कर लेता है।

मार्ग कितना ही लम्बा क्यों न हो, अगर धीरे-धीरे भी उसी दिशा में चला जायगा तो एक दिन वह तय हो ही जायगा, क्योंकि काल भी अनन्त है और आत्मा की शक्ति भी अनन्त है। इस दृढ श्रद्धा के साथ जो भगवान के मार्ग पर चलेगा और निराश न होकर चलता ही जाएगा, उसे अवश्य कल्याण की प्राप्ति होगी।

दुःख के क्षणों का महत्व समझो

❶

मनुष्य व्यर्थ ही दु.ख-दुःख चिल्लाया करता है। व्यर्थ ही दु.ख की चिन्ता करता है। वास्तव में अभी तो मनुष्य को कुछ भी दु ख नही है। नरक के जीवों की तरफ देखने पर—उनके दुःख से अपने दु.ख की तुलना करने पर—मालूम होगा कि हम मनुष्य कितने सुखी हैं ! अतएव मनुष्य को दुःख से नही घबराना चाहिये, वरन् यह सोचना चाहिये कि परमात्मा की प्रार्थना करके नारकी जीव भी सुखी हो सकते है तो हम सुखी बनने का प्रयास क्यों न करे ? हम नारकी जीवों से गये-बीते क्यों रहे ?

अगर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करोगे तो मालूम होगा कि जगत् की प्रचलित व्यवस्था में दु ख का ही प्रधान स्थान है। दुःख ससार का व्यवस्थापक है। भूख का दु'ख न होता तो खेती कौन करता ? लज्जा जाने का दु'ख न होता तो वस्त्र कौन पहनता और कौन बनाता ? शीत, ताप और वर्षा का दुःख न होता तो मकान बनाने की क्या आवश्यकता पडती। गर्मी से पैर न जलते या कांटा लगने से कष्ट न होता, तो जूता कौन पहनता ? इस प्रकार देखोगे तो प्रतीत होगा कि दु'खरूपी विशाल मशीन मे ही ससार की सारी व्यवस्था ढली है। कहावत है—आवश्यकता आविष्कार की जननी है। राजा का आविष्कार भी आवश्यकता ने ही किया है। दु खों से बचने के लिए राजा बनाया गया है।

दुःख न होता तो संसार की मशीन ही अस्त-व्यस्त हो जाती। इतना ही नही, दुःख मनुष्य को महान्, बलवान और तेजस्वी बनाता है। ससार के इतिहास में जिन विशिष्ट शक्तिसम्पन्न पुरुषों के नामों का उल्लेख आता है, उनके जीवनचरित्र पर एक सरसरी निगाह डालिये। आपको स्पष्ट प्रतीत होगा कि उनकी जो महत्ता है, उसका सारा रहस्य दुःख सहन करने की उनकी क्षमता में है। उन्होंने दुःखों से जूझकर ही महत्ता प्राप्त की है। सुख के संसार में विनास के कीडे उत्पन्न होते हैं और दुःख की दुनिया में दिव्यशक्ति सम्पन्न पुरुषों का जन्म होता है। वनवास के घोर दुःख सह कर ही रामचन्द्र ने मर्यादा पुरुषोत्तम का पद प्राप्त किया, विविध प्रकार की दुस्सह वेदनायें झेलकर ही त्रिशलानन्दन, भगवान् महावीर कहलाये। हंसते-हंसते प्राण देकर ईसा, ईसाइयों के आराध्य बने। संसारक्षेत्र में भी यही बात देखी जाती है। जंगल-जंगल भटक कर ही राणा प्रताप इतिहास में अमर हो सके, और अंगरेजों की लातें, घूंसे तथा कारागार के कष्ट सहने के पश्चात् मोहनदास गाधी 'महात्मा' पद के उत्ताराधिकारी हुये हैं। इन्हे तथा अन्य साधारण पुरुषों को दुःख ने जो महत्ता प्रदान की, वह कोई नही दे सका। दुःख के साथ सघर्ष करते-करते आत्मा में एक प्रकार की तेजस्विता का प्रादुर्भाव होता है। अन्तःकरण में दृढ़ता आती है। हृदय में चैन आता है और तबियत में मस्ती आती है। दुःखों को सहन करने में विजय का मधुर स्वाद आता है, जिसका अनुभव सबको नहीं होता। अतएव दुःख हमारे शत्रु नही मित्र हैं। शत्रु वह मानसिक वृत्ति है जो आत्मा को दुःखों

के सामने कायर बनाती है और दु.खों से दूर भागने के लिए प्रेरित करती है। सत्यशाली पुरुप दु.खो से बचने की प्रार्थना नही करता, वरन् दु.खों पर विजय प्राप्त करने योग्य बल की प्रार्थना करता है।

गौ की उपेक्षा मत करो

●

आज लोगों को गौ रक्षा के प्रति उपेक्षा हो गई है। इसी कारण ऋद्धि-सिद्धि देने वाली गौ भार रूप प्रतीत होती है। इस समय गौधन पर जितना संकट आ पड़ा है उतना पहले कभी नही आया था।

शास्त्र में लिखा है कि प्राचीन काल में एक करोड मोहरों का स्वामी एक गोकुल अर्थात् दस हजार गायो का पालन करता था। जिसके पास जितने करोड स्वर्ण–मोहरे होती, वह उतने ही गोकुल रखता था। जिस समय भारत में गौओं का ऐसा मान था, उस समय का भारत वैभवशाली क्यों न होता ? गौ ऋद्धि-सिद्धि देने वाली मानी गई है। जहां ऋधि-सिद्धि देने वाली हो वहा वैभव की क्या कमी ?

जैनशास्त्रों में गौ को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है। वेदों और पुराणों में भी गौ का अत्यधिक सन्मान

पाया जाता है। ब्राह्मण लोग गायत्री मंत्र का जाप गौमुखी में हाथ डालकर करते है। पर इन सब बातों का रहस्य जानने वाले कितने मिलेगे।

प्राचीन ग्रन्थों में गाय की महत्ता का खूब बखान किया गया है। गाय 'गौ' कहलाती है। 'गौ' पृथ्वी का भी नाम है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे पृथ्वी हमारा आधार है उसी प्रकार गाय भी हमारे जीवन का आधार है। आज गाय का आदर नही हो रहा है, पर प्राचीन-काल के राजा और सेठ अपने घर में गायों के झुण्ड-के-झुण्ड रखते थे। उस समय शायद ही ऐसा कोई घर रहा होगा, जहां गाय न पाली जाती हो। उसी युग में गाय गौमाता कहलाती थी और 'जय गोपाल' की ध्वनि सर्वत्र सुनाई देती थी--अर्थात् गाय पालने वाले की जय बोली जाती थी। मगर आज परम्परा का पालन करने के लिए गाय को कोई माता भले ही कह दे, पर उसका पालन विपत्ति से कम नही समझा जाता।

प्रत्येक हिन्दू गौ को 'गौमाता' के नाम से पुकारता है और उसे श्रद्धाभाव से देखता है। फिर भी उसकी पालना जैसी चाहिए वैसी नही हो रही है। मानव-समाज पर गाय के अपरिमित उपकार है। उसके उपकारों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए, उसे 'गौमाता' संज्ञा दी गई है। इस संज्ञा को सार्थक बनाने के लिए, उसके प्रति समाज जो उपेक्षा दिखाई जा रही है उसका दूर होना आवश्यक है।

विश्व ऐसी राजनीति से विमुक्त हो !

●

आज विश्व में जो राजनीति प्रचलित है उसका मुख्य आधार छल-कपट है। राजनीतिज्ञों की धारणा है कि बिना चाल-बाजी किये राजनीति में सफलता प्राप्त नही की जा सकती। एक ओर सुलह-संधि की बाते की जाती है और दूसरी ओर हिंसात्मक आक्रमण की तैयारिया चालू रहती हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को भुलावे में रख कर, मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध कामय रखने की पुकार मचाता है और दूसरी ओर परिस्थिति अनुकूल होते ही उस पर हमला बोल दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि इस समय की राजनीति, न्याय या प्रामाणिकता की सर्वथा उपेक्षा करती हुई माया-चार के जाल में जकड़ी हुई है। मगर इससे दुनिया में घोर अशान्ति है। कौन मित्र है और कौन शत्रु है, कौन किस समय क्या कर गुजरेगा, इस बात का ठीक-ठीक पता न लगा सकने के कारण प्रत्येक राष्ट्र का और प्रत्येक राजनीतिक दल का, प्रत्येक क्षण नाना प्रकार के कपट-जाल के निर्माण में ही लग रहा है। कपट-जाल की उल-झनें बढ़ती जा रही है और उनके बढाने में घोर प्रतिस्पर्धा हो रही है। जो छल-कपट करने में जितना अधिक कुशल है वह राजनीति में उतना ही उस्ताद माना जाता है। समग्र विश्व इस छल-नीति का शिकार हो रहा है। पारस्परिक अविश्वास की मात्रा इतनी अधिक बढ़ गई है कि अगर कोई अन्तःकरण से सच्ची सद्भावना प्रदर्शित करता है तो उस पर भी विश्वास नही किया जा सकता। उसके विषय

में भी यही सोचा जाता है कि न जाने किस गूढ़ अभिप्राय से वह ऐसी बातें कह रहा है ? इस प्रकार सर्वत्र अविश्वास, सर्वत्र असंतोष, और सर्वत्र शंकाशीलता के साम्राज्य में कौन सुख की सांस ले सकता है ?

इसके अतिरिक्त, जो कपट-नीति से काम लेता है और उसके द्वारा विजय प्राप्त करता है, उसकी विजय कभी-न-कभी पराजय के रूप में परिणत हुए बिना नहीं रह सकती। वह अपने कपट का आप ही शिकार बन जाता है। प्राय: देखा गया है कि जो समूह अपने विरोधियों के साथ छल-नीति का प्रयोग करता है, वह अन्त मे आपस मे एक-दूसरे के साथ भी वैसा ही व्यवहार करके अपने समूह की शक्ति को नष्ट कर डालता है।

संरक्षक बनो

●

मित्रो ! अगर आप लोग भी अपनी सम्पत्ति से पाप न करके, उसके ट्रस्टी भर बने रहो तो क्या उस सम्पत्ति को कुछ दाग लग जायगा ? हां, उस अवस्था में अपने भोग-विलास के लिए उसका दुरुपयोग न कर सकोगे। लेकिन बहुत लोगों की तो ट्रस्टी बनने की भावना ही नहीं होती। सच्चा श्रावक की जिन्दगी ऐसी होती है कि वह धन

के कीचड़ में फंसा रहे और उससे आत्मा को मलिन बना डाले ? उसे परोपकार में न लगावे ? क्या श्रावक को धर्म पर विश्वास नही है ? बैंक पर विश्वास करके उसमें लाखों रुपया जमा करा देने वालों को धर्मरूपी बैंक पर क्या विश्वास नही है ?

मित्रो ! आप लोगों के पास जो द्रव्य है उसे अगर परोपकार में, सार्वजनिक हित में और दीन-दुखियो को साता पहुंचाने में न लगाया तो याद रखना, इसका व्याज चुकाना भी तुम्हें कठिन हो जायगा । ऐसे द्रव्य के स्वामी बन कर आप फूले न समाते होंगे कि चलो हमारा द्रव्य बढ गया है, मगर शास्त्र कहता है और अनुभव उसका समर्थन करता है कि द्रव्य के साथ क्लेश बढ़ा है। जब आप बैंक से ऋण रूप में रुपया लेते है तो उसे चुकाने की कितनी चिन्ता रहती है ? उतनी ही चिन्ता पुण्यरूपी बैंक से प्राप्त द्रव्य को चुकाने की क्यों नही करते ? समझ रक्खो, यह सम्पत्ति तुम्हारी नही है। इसे परोपकार के अर्थ अर्पण कर दो । याद रक्खो कि यह जोखिम दूसरे की मेरे पास धरोहर है । अगर इसे अपने पास रख छोड़ूंगा तो यह तो यही रह जायगी, लेकिन इसका बदला चुकाना मेरे लिए बहुत भारी पड़ जायगा ।

धन के सद्व्यय के लिए हृदय मे उदारता चाहिये। जहां हृदय मे उदारता नही वहा धन का सद्व्यय नही हो सकता । धन के प्रति हृदय में ममता रहती है, उसका त्याग करने में ही आत्मा का कल्याण है ।

वन को साधन मानकर, उसके प्रति निर्मम बनना, उसे आत्मा को न ग्रसने देना, इतनी महत्व की बात है कि उसके बिना जीवन का अभ्युदय सिद्ध नही हो सकता।

अनिर्वचनीय-अनन्त सुख

आनन्द आत्मा का ही गुण है। उसे पर-पदार्थों के संयोग में खोजने का प्रयास करना भ्रम है। सत्य तो यह है कि जितने अंशों में पर का सयोग होगा उतने अ शों में सुख की न्यूनता होगी। आत्मा जब समस्त सयोगों से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है तभी उसके स्वाभाविक पूर्ण सुख का आविर्भाव होता है। यह स्वाभाविक सुख ही सच्चा सुख है। पर के निमित्त से होने वाला सुख, सुखाभास है-- सुख का मिथ्या सवेदन है।

कदाचित् तीव्र पुण्य के उदय से कोई विघ्न उपस्थित न हो तो भी विषय-सुख सदा विद्यमान नही रह सकता। क्योंकि यह सुख विषयों के संयोग से उत्पन्न होता है और 'सयोगा हि वियोगान्ता' सयोग का फल निश्चित रूप से वियोग ही है।

इस विषय-सुख में एक बात और है। बिना आरंभ-परिग्रह के यह सुख हो ही नही सकता और आरम्भ-परि-

ग्रह पाप के कारण हैं । पाप दुःख का कारण है । अतएव यह सुख, दुःख का कारण है ।

मधु से लिप्त तलवार की धार चाटने से जो सुख होता है और उस सुख के फल-स्वरूप जितना दु ख होता है उतना ही दु ख विषय-जन्य सुख भोगने से होता है। अतएव ज्ञानी-जन इस सुख को घृणा की दृष्टि से देखते है । उनका मन इस ओर कभी आकृष्ट नही होता । वे अन्तरात्मा के अनिर्वचनीय, असीम, अनन्त और अव्याबाध सुख की खोज में लगे रहते हैं । वही सुख सच्चा सुख है। उसमें दुःख का स्पर्श भी नही होता । यही आत्मा का स्वरूप है और 'आनन्द' शब्द से यहा उसी का ग्रहण किया गया है ।

श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला--- ग्रंथांक---१६

चिन्तन : मनन : अनुशीलन

(२)

श्रद्धेय आचार्य श्री गणेशलालजी म. सा.

के

प्रवचनों से संकलित अंश

संपादक

देवकुमार जैन

सिद्धान्ताचार्य, दर्शनशास्त्री, साहित्यरत्न

श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला, बीकानेर

(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)

प्रारम्भक

आज सर्वत्र लक्ष्यहीन वैचारिक, आचारिक स्वच्छन्दता, घबराहट, उदासी और निराशा व्याप्त है। सामान्य-से-सामान्य व्यक्ति पूछता है— आखिर यह सब क्या है? ऐसा क्यों हो रहा है? इसका मतलब क्या है? क्या इस स्थिति से उबरने का भी कोई उपाय है?

यदि इस स्थिति का गम्भीरता से विचार करे तो ज्ञात होगा कि जीवन का प्रत्येक पहलू और संस्कृति का आयाम अद्वितीय संकट के दौर से गुजर रहा है। बाह्य कलेवर और आन्तरिक मानस रोगग्रस्त है। निरन्तर विकासमान संत्रास को चीर पाना कठिन हो गया है।

लेकिन मानव जाति निराशा के चरमबिन्दु तक पहुचने पर भी दिशाबोध को प्राप्त करने के विश्वास से विलग नहीं होती है। वह इस निष्ठा से भी नहीं डिगती है कि विकट स्थिति में मानवोत्तम महापुरुष अपने चिन्तन मनन के आलोक में मार्गदर्शन बताते रहते हैं।

विश्व-इतिहास में महापुरुषों की स्थिति विरल है। लेकिन वे किसी क्षेत्रविशेष में सीमित नहीं किये जा सकते हैं। वे अपनी मूल्यात्मक एवं व्याख्यात्मक क्रियाशीलता के द्वारा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करते है। उनकी दूरदर्शी चेतना जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त विषमता का स्पर्श करती है। आचार,

विचार, धर्म, शिक्षा, साहित्य, समाज आदि सभी क्षेत्रों मे उनके चिन्तन का योगदान रहता है ।

महापुरुषों का चिन्तन मौलिक होता है । वे अतीत की मूल्यवान उपलब्धियो को अस्वीकार नही करते है और न अपने चिन्तन की तुलना मे उनका मूल्य घटाते है । उनका आत्म-विश्वास दूसरो को महानता की शक्ति प्राप्त कराता है ।

सत्य, अहिंसा और प्रेम ये त्रिगुणात्मक तत्व ही जीवन की रचना करते है । उनके अभाव मे ध्वास का अन्धकार विश्व-जीवन को निगल जायेगा । इस मानव-नियति का साक्षात्कार महापुरुष अपने चिन्तन के असीम विस्तार मे ही नही, अनुभव की अतल गहराई मे भी करते है । इसीलिये अनेक शताब्दियों के उपरान्त भी मानव-जाति अपने इन सत्यशोधको की ओर देखती रही है और देखती रहेगी । महापुरुषो के सार्वभौमिक व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा उनके सत्य को हृदयगम करने मे है । सत्य का कोई आकार नही होता है, उसे तो प्रत्येक मानव अपने प्राणो मे ही सजोये रहता है ।

प्रस्तुत सकलन मे महापुरुषों की परम्परा के स्व० श्रद्धेय आचार्य श्री गणेशलालजी म. सा. के चिन्तन-मनन-अनुशीलन का समावेश है । यद्यपि संकलित अशो मे उनके चिन्तन की समग्रता समाहित नही है, किन्तु अशमात्र है और उसके द्वारा हमे उनके चिन्तन की पूर्णता की सहजरूपेण अनुभूति हो सकती है ।

संकलन के सकेतो को सही रूप में आत्मसात करने के लिये पाठक प्रवृत्त हो, यही आकांक्षा है ।

—सपादक

महावीर ने कहा

महावीर ने दृढ़ता से आह्वान किया—

पुरिसा अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खापमोक्खसि ।

हे पुरुषो ! आत्मा को विषयों (कर्म-वासनाओं) की ओर जाने से रोको, क्योंकि इसी से तुम दुःख से मुक्ति पा सकोगे ।

जैन दर्शन महावीर की इसी पूर्ण स्वाधीनता की उत्कृष्ट भावना पर आधारित है । परिग्रह के ममत्व को काटकर संग्रहवृत्ति का जब त्याग किया जाएगा, तभी कोई पूर्ण अहिंसक और पूर्ण स्वाधीन बन सकता है । स्वाधीनता ही आत्मा का स्वधर्म अथवा निजी स्वरूप है । मोह, मिथ्यात्व एवं अज्ञान के वशीभूत होकर आत्मा अपने मूल-स्वभाव को विस्मृत कर देती है और इसीलिए वह दासता की शृंखलाओं में जकड़ जाती है ।

महावीर ने स्वाधीनता के इसी आदर्श को बता कर विश्व में फैली बड़े-छोटे, छूत-अछूत, धनी-निर्धन आदि की विषमता एवं भौतिक शक्तियों के मिथ्याभिमान को दूर हटाकर सबको समानता के अधिकार बताये । यही कारण है कि ढाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी महावीर के अहिंसा और त्याग के अनुभवों की गूंज बराबर बनी रही है ।

आत्मदर्शन का साधन

●

देह और आत्मा का अभेद समझने की मूढ दृष्टि जब तक विद्यमान रहती है तब तक बहिरात्म दशा बनी रहती है। सर्वप्रथम आत्मा के पृथक अस्तित्व को समझना आवश्यक है। अन्तरात्मा बनने के लिए आपको मानना चाहिए कि देह अलग है और मै अलग हूं। देह के नाश में मेरा नाश नही है। मैं अविनाशी हूं, अनन्त हूं, अक्षय हूं, अनन्त आनन्द और चैतन्य का आगार हूं।

अन्तरात्म दशा प्राप्त होने पर जीव के विचार और व्यवहार में बड़ा अन्तर आ जाता है। यह नाशशील दु:ख के बीज और आत्मा को मलीन बनाने वाले सांसारिक सुख की अभिलाषा नही करता। अन्तरात्मा जीव का विवेक जब परिपक्व होता है तो इसे सांसारिक सुख से अरुचि हो जाती है। तब आत्मा अपने ही स्वरूप में रमण करने लगती है। उस अवस्था को इन शब्दो में व्यक्त कर सकते है—

वह परम आत्मा अनन्त सुख से सम्पन्न, ज्ञानरूपी अमृत का स्रोत, अनन्तशक्ति से समन्वित है, उसमें किसी प्रकार का विकार नही है, उसके लिए किसी आधार की आवश्यकता नही है, वह समस्त परपदार्थो के संसर्ग से रहित है और विशुद्ध चैतन्य स्वरूपी है। आत्मा का समर्पण करने से आत्मा की उपलब्धि होती है, उसका स्वरूप अधिकाधिक निर्मल रूप से समझ मे आने लगता है।

महावीर-सन्देश

●

हे पुरुषो ! आत्मा को विषयों (काम-वासनाओं) की ओर जाने से रोको, क्योंकि इसी से तुम दुःख से मुक्ति पा सकोगे।

समस्त जैनदर्शन महावीर की इसी पूर्ण स्वाधीनता की उत्कृष्ट भावना पर आधारित है।

आत्मा की पूर्ण स्वाधीनता का अर्थ है—संपूर्ण भौतिक पदार्थों एव भौतिक जगत से संबंध-विच्छेद करना। अंतिम श्रेणी में शरीर भी उसके लिये एक बेडी है, क्योंकि वह अन्य आत्माओं के साथ एकत्व प्राप्त कराने में बाधक है। पूर्ण स्वाधीनता की इच्छा रखने वाला विश्वहित के लिये अपनी देह का भी त्याग कर देता है। वह विश्व के जीवन को ही अपना मानता है, सबके सुख-दुःख में ही स्वय के सुख-दुःख का अनुभव करता है, व्यापक चेतना मे निज की चेतना को खो देता है। एक शब्द में कहा जा सकता है कि वह अपने व्यष्टि को समष्टि मे विलीन कर देता है। वह आज की तरह अपने अधिकारों के लिये रोता नहीं, वह कार्य करना जानता है और कर्तव्यों के कठोर पथ पर कदम बढ़ाता हुआ चलता जाता है। जैसा कि गीता में भी कहा गया है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'

आत्मदर्शन का साधन

●

देह और आत्मा का अभेद समझने की मूढ दृष्टि जब तक विद्यमान रहती है तब तक बहिरात्म दशा बनी रहती है। सर्वप्रथम आत्मा के पृथक अस्तित्व को समझना आवश्यक है। अन्तरात्मा बनने के लिए आपको मानना चाहिए कि देह अलग है और मै अलग हूं। देह के नाश में मेरा नाश नही है। मैं अविनाशी हूं, अनन्त हूं, अक्षय हूं, अनन्त आनन्द और चैतन्य का आगार हूं।

अन्तरात्म दशा प्राप्त होने पर जीव के विचार और व्यवहार में बड़ा अन्तर आ जाता है। यह नाशशील दु ख के बीज और आत्मा को मलीन बनाने वाले सासारिक सुख की अभिलाषा नही करता। अन्तरात्मा जीव का विवेक जब परिपक्व होता है तो इसे सांसारिक सुख से अरुचि हो जाती है। तब आत्मा अपने ही स्वरूप में रमण करने लगती है। उस अवस्था को इन शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं—

वह परम आत्मा अनन्त सुख से सम्पन्न, ज्ञानरूपी अमृत का स्रोत, अनन्तशक्ति से समन्वित है; उसमें किसी प्रकार का विकार नही है, उसके लिए किसी आधार की आवश्यकता नही है, वह समस्त परपदार्थों के संसर्ग से रहित है और विशुद्ध चैतन्य स्वरूपी है। आत्मा का समर्पण करने से आत्मा की उपलब्धि होती है, उसका स्वरूप अधिकाधिक निर्मल रूप से समझ मे आने लगता है।

महावीर-सन्देश

हे पुरुषो ! आत्मा को विषयों (काम-वासनाओं) की ओर जाने से रोको, क्योंकि इसी से तुम दुःख से मुक्ति पा सकोगे।

समस्त जैनदर्शन महावीर की इसी पूर्ण स्वाधीनता की उत्कृष्ट भावना पर आधारित है।

आत्मा की पूर्ण स्वाधीनता का अर्थ है—संपूर्ण भौतिक पदार्थों एवं भौतिक जगत से संबध-विच्छेद करना। अंतिम श्रेणी में शरीर भी उसके लिये एक बेड़ी है, क्योंकि वह अन्य आत्माओं के साथ एकत्व प्राप्त कराने में बाधक है। पूर्ण स्वाधीनता की इच्छा रखने वाला विश्वहित के लिये अपनी देह का भी त्याग कर देता है। वह विश्व के जीवन को ही अपना मानता है, सबके सुख-दुःख में ही स्वय के सुख-दुःख का अनुभव करता है, व्यापक चेतना में निज की चेतना को संजो देता है। एक शब्द में कहा जा सकता है कि वह अपने व्यष्टि को समष्टि में विलीन कर देता है। वह आज की तरह अपने अधिकारों के लिये रोता नहीं. वह कार्य करना जानता है और कर्तव्यों के कठोर पथ पर कदम बढ़ाता हुआ चलता जाता है। जैसा कि गीता में भी कहा गया है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'

फल की कामना से कोई कार्य मत करो। अपना कर्तव्य जानकर करो, तब उस निष्काम कर्म में एक आत्मिक आनन्द होगा और उसी कर्म का सम्पूर्ण समाज पर विशुद्ध एवं स्वस्थ प्रभाव पड़ सकेगा। कामनापूर्ण कर्म दूसरों के हृदय में विश्वास पैदा नहा करता। स्वार्थ छोड़ने से परमार्थ की भावना पैदा होती है, और तभी आत्मिक भाव जागता है।

महावीर ने स्वाधीनता के इसी आदर्श को बताकर विषमता एव भौतिक शक्तियों के मिथ्याभिमान को दूर हटा कर सबको समानता के अधिकार बताये। यही कारण है कि ढाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी महावीर के अहिसा और त्याग के अनुभवों की गूंज बराबर बनी है।

आत्मा से विश्वासघात न करो

●

मानव जीवन की भौतिक शक्तियों के पा लेने में विशेषता नही है, पाकर उन्हे निस्पृहभाव से त्याग देने में उसकी परम विशेषता रही है। दशवैकालिक सूत्र (अध्याय २, गाथा ३) में कहा है——

जे य कते पिये भोए, लद्धे विपट्ठि कुव्वई।
साहीण चयई भोऐ, से दु चाई त्ति वुच्चई॥

अर्थात् जो सुन्दर भोगोपभोग के पदार्थों को प्राप्त करके भी उन्हें आत्मोन्नति हेतु त्याग देता है वही सच्चा त्यागी कहलाता है। धन-संग्रह जहाँ दुःख-क्लेश का मूल है, वहां उसी धन को निस्पृहभाव से त्याग करने में महान आत्मिक आनन्द का निवास है। फिर भी इस शाश्वत सिद्धांत से विमुख होकर जो क्षणिक सुखाभास के दलदल में अपने आपको फंसाकर मानव जीवन को पतित बनाता है, वह त्यागी भर्तृहरि के शब्दों में "तिल की खल को पकाने के लिये अमूल्य रत्नों के पात्र का उपयोग करने वाले, आक की खेती के लिये स्वर्ण के हल से धरती को खोदने वाले और कोदरे अन्न के लिये कपूर की खेती को नष्ट करने वाले व्यक्ति की तरह" अपने आपको वज्रमूर्ख ही सिद्ध करता है। इस जीवन में आत्मोत्थान के सभी संयोग उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर ध्यान न देकर धनलिप्सा व मिथ्या व्यामोहों में फंस जाना अपनी ही आत्मा के साथ भीषण विश्वासघात करना और मानव-जीवन की अनुपम विशिष्टता को व्यर्थ ही में खो देना है।

दुराग्रह को दूर करो

मानव जीवन में अनेक प्रकार की दुर्बलताये देखी। प्रथम तो मनुष्य का अपने विचारों के प्रति

स्वभावत: एक विशिष्ट आकर्षण या मोह होता है । उसके कारण वह सत्य का साक्षात्कार करके भी यकायक अपने विचार या मतव्य में परिवर्तन नहीं कर पाता । दूसरी दुर्बलता है परम्परा के प्रति अन्धश्रद्धा । जब मनुष्य अपने विचार या मन्तव्य को असमीचीन समझ लेता है, तब भी परम्परा से आया हुआ होने के कारण उस विचार को छोड़ नहीं पाता ।

आज अधिकांश जनता इसी प्रकार के दुर्बल विचारों का शिकार हो रही है। जानते है कि अमुक रूढ़ि हानिकर है, वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल नही है और उसके चालू रहने से समाज के वहुत लोगों को कष्ट उठाना पडता है, फिर भी उसे त्यागने का साहस नही होता । क्योकि वह पुरखाओं के जमाने से चली आ रही है। इस प्रकार के लोग अपने विवेक का अपमान करते है। विवेक न होगा तो साधन मिलने पर भी कार्य अच्छा न होगा ।

इस तथ्य को सामने रखकर विचार करे ।

समता : लक्ष्यप्राप्ति का साधन

●

यह निश्चय है कि जब तक सांसारिक क्षेत्र में ही एक भावनापूर्ण वातावरण की सृष्टि नही होगी, समाज में परस्पर व्यवहार की रीति-नीति समान व सम्यक् नहीं

बनेगी तो निवृत्ति के मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति भी साधारण रूप से पैदा नही हो सकेगी। इसलिये समाज में समान और सम्यक् वातावरण पैदा हो तथा सामाजिकता की भावना का प्रसार हो, यह निवृत्ति के प्रत्यक्ष लक्ष्य का परोक्ष साधन माना गया है। क्योंकि यह ससार में प्रवृत्ति करने की बात नही वरन् सामाजिक सुधार द्वारा निवृत्ति के लक्ष्य को मस्तिष्क में स्पष्ट कराने का अथक प्रयास है।

जैनसिद्धातों की जो गति है, वह निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति की है, प्रवृत्ति के लिये प्रवृत्ति की नही। निवृत्ति का प्रसार उसी समाज मे हो सकेगा, जिसमें गुणों और आचरण की पूजा होती होगी। किन्तु जब तक ऐसा स्वस्थ समाज नही बनेगा तो यह भी सभव नही हो सकता कि निवृत्ति का व्यापक प्रचार हो सके। 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' हमारे यहाँ कहा गया है। धर्म का आचरण तभी शुद्ध बन सकेगा जब समाज का व्यवहार शुद्ध होगा और समानता के जो स्रोत जैनसिद्धान्तों के अनुसार बताये गये, वे ही सशक्त साधन है, जिनके आधार पर समाज के व्यवहार का शुद्धिकरण किया जा सकता है।

सजग सामाजिकता आत्म-कल्याण की ज्योति जगाये, यही जैनसिद्धान्तों का सदेश है।

विचार-समन्वय का सुमार्ग

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है तथा उसका मस्तिष्क ही उसे प्राणी समाज में उच्च स्थान प्रदान करता है। मनुष्य सोचता है, स्वय ही और स्वतन्त्रतापूर्वक भी, अतः उसका परिणाम स्पष्ट है कि विचारों की विभिन्न दृष्टियां संसार में जन्म लेती है। एक ही वस्तु के स्वरूप पर भी विभिन्न लोग अपनी-अपनी अलग-अलग दृष्टियों से सोचना शुरु करते हैं। किन्तु उसके आगे एक ही वस्तु को विभिन्न दृष्टियों से सोचकर उसके स्वरूप को समन्वित करने की ओर वे नही झुकते। जिससे एक वस्तु को जिस विशिष्ट दृष्टि से सोचा है, वह उसे ही वस्तु का सर्वांग स्वरूप घोषित कर अपना ही महत्त्व प्रदर्शित करना चाहता है। फल यह होता है कि एकान्तिक दृष्टिकोण व हठवादिता का वातावरण मजबूत होने लगता है और वे ही विचार जो सत्यज्ञान की ओर बढा सकते थे, पारस्परिक समन्वय के अभाव में संघर्ष के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

अगर विचारों को जोड़कर देखने की वृत्ति पैदा नहीं होती है तो वह एकांगी सत्य भी सत्य न रहकर मिथ्या में बदल जायेगा। अतः सत्य को जोडकर वस्तु के स्वरूप को व्यापक दृष्टि से देखने की कोशिश की जाये।

यही जगत के वैचारिक संघर्ष को मिटाकर उन विचारों को आदर्श सिद्धातों का जनक बनाने की सुन्दर राह है।

कर्मवाद का अन्तर्रहस्य

●

कर्मबन्धन के प्रधान कारणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मोह, अज्ञान या मिथ्यात्व, यही सबसे बड़े कारण हैं। क्योंकि इन्ही के कारण रागद्वेष का जन्म होता है व तज्जन्य विविध विकारों से आत्मा कर्म से लिप्त हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में कर्मबन्ध के कारणों पर कहा गया है—

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुदुगलानादत्ते स बन्धः।"

रागद्वेषात्मक कषाय परिणति से आत्मा कर्मयोग्य पुद्गलों को जब ग्रहण करता है तो वही बन्ध है तथा इसके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बताये गये हैं। यह उल्लेखनीय स्थिति है कि कर्मबन्ध का मुख्य कारण बाहर की क्रियायें उतनी नही, जितनी आंतरिक भावनाये मानी गई हैं। क्रियाओं में अनासक्त भाव का प्राबल्य बनाने से विकारों का प्रभाव नही पड़ता। शैलेषी नाम की क्रिया में तो अनासक्ति क्या, मन, वचन, काया की प्रवृत्तिया का सम्पूर्ण निरोध ही कर लिया जाता है।

कर्मबन्ध से सर्वथा मुक्त होने के लिए नये आने वाले कर्मो को रोकना पडता है। इस रोकने को संवर तथा जिन स्रोतों से कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहा गया है। आस्रव का विरोध संवर है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र की शक्तियों से आत्मा के विकार—कर्मो को दूर करना चाहिए ताकि आत्मा कर्ममुक्त होकर अपने मूल रूप की ओर गति कर सके।

जैनधर्म का कर्मवाद सिद्धान्त मानव को अपना निज का भाग्य स्वतः ही निर्माण करने की प्रेरणा देने के साथ ही उसे जीवन की ऊची-नीची परिस्थितियों मे शांति, उत्साह सहनशीलता और कर्मठता का जागरूक पाठ पढ़ाता है। अपने पर छा जाने वाली आपत्तियों के बीच भी वह उन्हे अपना ही कर्मफल समझकर शान्तिपूर्वक सहन करने की क्षमता पैदा करता है तथा उज्जवल भविष्य के निर्माण हित सत्प्रयत्नों में प्रवृत्त हो जाने पर दृढ़ निश्चय कर लेता है। कर्मवाद को मानकर वह पूर्वकृत कर्मों के फल को अपने कर्ज चुकाने की तरह स्वीकार करता है। कर्मवाद के जरिये मनुष्य में स्वावलम्बन व आत्मविश्वास के सुदृढ भाव जाग्रत होते हैं और यह इस सिद्धान्त का सब से बड़ा व्यवहारिक मूल्य है।

•

कर्मवाद का यही सन्देश है कि जो स्वरूप परमात्मा का है, वही प्रत्येक आत्मा का है, किन्तु उसे प्रगटाने के लिए विजातीय-भौतिक पदार्थो से मोह हटाकर सजातीय आत्मिक शक्तियों को प्रकाशित करना होगा।

परमात्मा आत्मा का परमोत्कृष्ट रूप

जैनदर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि परमात्म-पद कोई अलग वस्तुस्थिति नही बल्कि उसका स्वरूप आत्मा के ही

परमोत्कृष्ट रूप में जाज्वल्यमान होता है। आत्मा पर लगा हुआ कर्म का कलुष ज्यों-ज्यों धुलता जाये, गुणस्थान की सीढ़ियों पर चढ़ता जाये, तब चरम स्थिति होती है कि वही परमात्म-पद पर पहुंच जाता है। आत्मा से परमात्मा की गतिक्रम रेखा है, एक ही मार्ग के दो सिरे हैं जिनमें कर्म-स्वरूप भेद हैं, मूलभेद नहीं। हमारी यह मान्यता नहीं कि ईश्वर इस जगत या जगवर्ती आत्माओं से प्रारम्भ ही में विलग रहा है और उसका जगत की रचना से कोई सम्बन्ध हो। जगत् का क्रम कर्मानुवर्ती माना गया है और उसी आवर्तन में पुद्गल तथा आत्माएं प्रेरित व अनुप्रेरित होते हैं और चक्कर लगाते रहते हैं। आत्माएं कर्म चक्र में फंसती हैं और धर्म वह आधारशिला है जिस पर चढकर वे इस चक्र से निकलने का पराक्रम भी करती है। इसी पराक्रम की सफलता का अन्तिम बिन्दु परमात्म-पद है।

विकास का मूल सिद्धान्त

मनुष्य स्वयं ही अपने व समाज के भाग्य का निर्माता है—इस तथ्य को जब-जब उससे भुला देने की कोशिश की गई तब-तब मानव समाज में शिथिलता व अकर्मण्यता का वातावरण फैला। किसी अन्य पर अपने निर्माण को आश्रित बनाकर विकास करने का उत्साह मनुष्य मे नही बन पड़ता,

चाहे वैसा आश्रय खुद ईश्वर को ही सौंपा गया हो। मनुष्य गतिशील प्राणी है और जहां भी उसे गतिहीन बनाने का प्रयास किया गया कि उसका विकास रुक गया। मनुष्य स्वयं ही पर आश्रित रह सकता है, किसी अन्य पर उसे आश्रित बताकर उसको गतिशील नहीं बनाया जा सकता है।

जैनदृष्टि के अनुसार आत्मा ही परमात्मा बन जाता है, भक्त स्वयं भगवान बन कर दिव्य स्थिति को प्राप्त कर लेता है और आराधक एक दिन आराध्य के रूप में अपने उच्चतम स्वरूप को ग्रहण करता है और जैनधर्म के इस प्रगतिशील विकासवाद का मूलाधार सिद्धांत है कर्मवाद का सिद्धान्त।

अतः कर्मवाद का सिद्धान्त इस सत्य का प्रतीक है कि प्राणी के लिए कोई भी विकास, चाहे वह चरम विकास के रूप में ईश्वरत्व की प्राप्ति ही क्यों न हो, असंभव नहीं। वह स्वयं कर्त्ता है और फल भोक्ता है।

इस विचारणा के पीछे जो मजबूती है, वह स्वतः प्रेरित फलवाद की धारणा है। अगर फलवाद का कार्य ईश्वर पर छोड़ा जाये, जैसा कि अन्य दर्शन मानते हैं तो वही आश्रित अवस्था पैदा हो जाने पर मनुष्य में से स्वाश्रय का भाव जाता रहेगा और तदुपरान्त प्रगति की ओर बढ़ने की वैसी लक्ष्यसाधित विचारणा उसमे बनी न रह सकेगी।

जैन दर्शन का तत्त्ववाद

●

जैन शास्त्रों में तत्त्ववाद का बड़ा विशद विवरण है। इस समूचे तत्त्ववाद को नौ भागों में विभक्त किया गया है–

१. जीव २. अजीव. ३. बंध. ४. पाप. ५. पुण्य. ६. आश्रव. ७. संवर. ८. निर्जरा. ९. मोक्ष।

जीव तत्त्व––जो सच्चिदानन्दमय हो। इसमें तीन शब्द मिले हुए हैं–– सत्, चित्त और आनन्द। सत् का अर्थ है जो तीनों कालों में स्थायी रहता है। अर्थात् जो पर्याय बदलने की दृष्टि से पैदा हो, नष्ट हो जाये किन्तु द्रव्य रूप से नित्य व शाश्वत रहे वह सत् होता है। चित अर्थात् अपने से ऊपर साधन की अपेक्षा न रखते हुए स्वयं ही प्रकाशमान होकर दूसरों को भी प्रकाशित करता है। चेतन का तीसरा गुण है आनन्द। हम है और हम अनुभव करते हैं, उसका परिणाम जो निकलता है वह आनन्द है।

अजीव तत्त्व––याने जड़ पुद्गल का स्वभाव सड़ना, गलना, बदलना और नित्य प्रति इसकी पर्यायें बदलती हैं।

बध तत्त्व–– जीव-अजीव को बांधने वाले तत्त्व का नाम है।

पाप-पुण्य तत्त्व–– बंध के फलस्वरूप सामने आते हैं और दोनों अशुभ या शुभ फलदायक होते हैं। इन्ही के कारण आत्मा सांसारिक सुखों या दुखों का अनुभव करता रहता है।

आस्रव तत्त्व---अशुभ लगावट आत्मा के साथ होती है उसे आस्रव तत्त्व कहा है। आस्रव तत्त्व से आत्मा की मलीनता बढ़ती है।

संवर तत्त्व---शुभ योग तथा योग निरोध को संवर कहा है। यद्यपि संवर तत्त्व आत्मोत्थान में सहायक होता है, किन्तु उसी तरह जिस तरह नाव नदी को पार करने में सहायक होती है।

निर्जरा तत्त्व---संलग्न कर्म पुद्गलों से आत्मा को छुड़ाने वाला तत्त्व है। निर्जरा का अर्थ है कर्मक्षय।

मोक्ष तत्त्व---जब आत्मा जड़ की उगावट को पूरे तौर पर खत्म कर देता है और शरीर के अन्तिम बन्धन से जब वह छूट जाता है तो उसकी मुक्ति हो जाती है।

शुद्धि सिद्धिदायनी

पहले हमें यह देखना होगा कि धर्म को हृदय में विराजने के आह्वान के पूर्व उसके धरातल का निर्माण किया गया है या नही ? यदि प्राथमिक हृदय शुद्धि नही की है और धर्म का आह्वान किया तो क्या उसका निवास फिर स्थायी हो सकेगा ? यह सोचने की बात है।

परन्तु साधारणतया देखा जाता है कि अन्तःकरण की बिना शुद्धि किये ही धर्माराधन किया जाता है---भगवान धर्मनाथ को हृदय में पधारने का आमंत्रण दिया जाता है। आप ही इस विज्ञान को क्या कहेंगे जो बिना खेत को जोते और कृषि योग्य बनाये ही वर्षा को बुलाने के लिए मल्हार राग गाने के लिए बैठ जायें ?

एक फारसी कवि ने कहा है--

"गैर हकराभी देही दर हीरी में दिलचरा--"

अर्थात्– हे मनुष्य तू अपने हृदयरूपी भवन में परमात्मा के अतिरिक्त किसी को स्थान मत दे और परमात्मा धर्म का प्रतीक है तथा है विश्व में अपने आपको व्याप्त कर अपने मूल स्वभाव की ओर गति करना। किन्तु हृदय के विकारों से मुक्त हुए बिना उसमें धर्म का प्रवेश नही हो पाता।

इतना विश्लेषण इसीलिए किया है कि मनुष्य अपनी प्रगति की राह को पहचान सके और अपनी भूमिका एव गति को माप-तौल सके। अतः इसका सीधे शब्दों मे यही सार है कि मनुष्य के मूल स्वभाव की ओर बढने मे सभी सद्गुणों व सत्कार्यों का समावेश हो जाता है, जहां स्वार्थ वृति की समाप्ति होकर उसके हृदय में सबके लिए उत्कृष्ट आत्मीय प्रेम का मिठास होगा तथा होगी उसकी प्रवृत्तियों मे ससारभर की पवित्र सेवा करने की अटल कर्मठता। तब विश्वानुभूति को हृदय में समाकर वह अपने चरम

विकास—धर्म की मंजिल की ओर उन्मुख हो उधर तेजी से बढ़ने लगेगा।

विश्वशांति का मूल

ममत्व से जागता है राग और द्वेष। अपनी सम्पत्ति के प्रति राग बढे और उसकी रक्षा की जाय और राग जितना गाढ़ा होता जायगा, उस संपत्ति की वृद्धि व रक्षा में वह उचित-अनुचित, कार्य-अकार्य सब कुछ बेहिचक करने लग जायगा। इसके साथ ही दूसरों की संपत्ति से अपने मन में द्वेष जागेगा और उस संपत्ति के प्रति विनाश की बात सोचेगा। इस राग और द्वेष की वृत्तियों के साथ मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, अन्याय की कई बुराइयां मानव मन में प्रवेश करती जायगीं तथा इन बुराइयों की फैलावर दुनिया का स्वरूप 'त्राहिमाम्-त्राहिमाम् हो जाता है। उसका अनुभव मैं समझता हूं, वर्तमान व्यवस्था में आपको हो रहा होगा।

आज के साम्यवाद, समाजवाद अपरिग्रह सिद्धान्त के ही रूपान्तर हैं। यदि अपरिग्रह का क्रियात्मक रूप जैनी भी अपने जीवन में उतारें तो वे अपने जीवन में तो आनद का अनुभव करेंगे ही—साथ ही सारी दुनियां में एक नई रोशनी, नया आदर्श भी उपस्थित कर सकेंगे, क्योंकि अप-

रिग्रह का सिद्धांत साम्यवाद व समाजवाद के लक्ष्यों की तो पूर्ति कर देगा, किन्तु उनकी बुराइयों को भी चारित्र एवं संयम की आधारशिला पर नागरिकों को खड़ा करके पनपने नही देगा।

परिग्रह की परिभाषा

परिग्रह की व्याख्या की गई है, "मूर्छा परिग्रहः"। पदार्थो का नाम परिग्रह नही, उनमें ममत्व रखकर आत्म-ज्ञान से संज्ञाशून्य हो जाना परिग्रह कहा गया है। जब जड़ पदार्थो में वृद्धि बढ़ती है और प्राणी अपने चेतन तत्व को भूलता है तब उसको परिग्रही कहा। यह ममत्व जब मनुष्य के मनमें जागता है तो आत्मा को कलुषित करने वाले सैकड़ों दुगुर्ण उसमें प्रवेश करनें लगते हैं।

इसीलिए भगवान् महावीर ने अपरिग्रहवाद के सिद्धांत पर विशेष प्रकाश डाला और निवृत्ति प्रधान मार्ग की प्रेरणा दी। उन्होंने साधु व गृहस्थ धर्मो के जो नियम बताये वे इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

साधु के लिये तो उन्होंने परिग्रह का सर्वथा ही निषेध किया, उसे निर्ग्रन्थ कहा। साधु को इसीलिए संयमोपकरण रखते हुए अपरिग्रही कहा है कि उसका उनमें ममत्व नहीं

होता और ममत्व क्यों नही होता कि उन पदार्थो पर वह अपना स्वामित्व नही मानता। वे पदार्थ वह भिक्षा द्वारा प्राप्त करता है। साधु के लिए तो भगवान ने कहा कि उसको अपने शरीर में भी ममत्व नही होना चाहिये, इसीलिए जैन साधु का जीवन जितना सादा, जितना कठोर और जितना त्यागमय वतलाया गया है, उसकी समता अन्यत्र कठिनता से देखने मे आयेगी।

भगवान् महावीर ने साधु जीवन को कतई परिग्रह से मुक्त रखा ताकि वे गृहस्थों में फैले परिग्रह के ममत्व को घटाते रहें।

जो तृष्णा के दास हैं

●

आज के मानव को अपने स्वार्थो को पूरा करने की आशा, आकांक्षा, इच्छा, तृष्णा, वासना या कुछ भी कह लीजिए, इतना पागल बना रही है कि ऐसा पागलपन आज तक नही देखा गया। उसकी मदान्धता ने सामाजिक जीवन मे भीषण उथल-पुथल मचादी है। इसका कारण यह है कि आज की इच्छाओं ने व्यक्तिगत से सामूहिक रूप धारण कर लिया है और इसीलिए पूर्ति के साधनों में भी सामूहिकता का भाव आने से इसकी भीषणता व बर्बरता अधिक बढ़ गई है। लेकिन यह सामूहिकता व्यापक सामूहिकता

नही, किन्तु कुछ शक्ति-सम्पन्नों की सामूहिकता है जो अपने मानवता घातक संगठनों द्वारा अशक्त विशाल जन-समाज का क्रूर शोषण करवाती है।

इस स्थिति का वास्तविक कारण सहज ही में जाना जा सकता है। तृष्णा के पागलपन में मनुष्य अन्धा हो जाता है। तब उसकी जीवन-शांति में अशांति के भीषण अधड़ आया करते हैं, जो केवल उसके जीवन को ही अशांत नही बनाते बल्कि सारे समाज के लिये भी अभिशाप रूप बन जाते हैं। एक-पर-एक तृष्णायें उठती जाती हैं, जिनकी पूर्ति में मनुष्य हर बुरे-से-बुरा तरीका काम में लाकर समाज में शोषण, अन्याय, और उत्पीड़न की भयंकर आग जलाता है। यही कारण है कि व्यवहार में धार्मिक चिन्तन एवं क्रियाये करने वाला व्यक्ति आन्तरिक विचारधारा से आशा-पूर्ति के नवीन-नवीन उपायों की खोज करता रहता है।

दरिद्रता का उन्मूलन कैसे ?

आज के मानव को अपने स्वार्थों को पूरा करने की आशा, आकांक्षा इतना पागल बना रही है कि ऐसा पागल-पन आज तक नहीं देखा गया है। पागलपन में इतना अंधा हो गया है कि उसकी जीवन-शान्ति में अशांति के भीषण अंधड़ आया करते हैं, जो केवल उसके जीवन को ही अशांत नहीं

बनाते, बल्कि सारे समाज के लिये भी अभिशाप रूप बन जाते हैं। एक-पर-एक तृष्णायें उठती जाती है, जिनकी पूर्ति में मनुष्य हर बुरे-से-बुरा तरीका काम में लाकर समाज में शोषण, अन्याय और उत्पीड़न की भयंकर आग जलाता है।

तृष्णा के इस विपाक्त व्यापक प्रसार के कारण सांसारिक व धार्मिक दोनों क्षेत्रों में दरिद्रता, घर, कर गई है। इस दरिद्रता में आज मानवता पिस रही है और पशुता का नंगा नाच हो रहा है। यह दरिद्रता तृष्णा परित्याग से हटाई जा सकती है। तृष्णा का त्याग करके ही मानव-समाज की आर्थिक व अन्य क्षेत्रीय दरिद्रताओं का विनाश सहज ही में हो सकता है।

शांति का उपाय

●

शान्ति जीवन-विकास के लिये एक प्रमुख आवश्यकता है और जब तक किसी भी प्रकार से हम हमारे हृदय व मस्तिष्क में शान्ति के संचार का प्रयास नहीं करेगे, आपत्तियों के तूफान में पड़ कर कभी हम आत्मोन्नति की ओर ध्यान दे ही नही सकेंगे। सच्ची शान्ति के लिए विकृत मनोविकारों का आवरण हटाना होगा, राग-द्वेष, मोहमाया, तृष्णा-स्वार्थ आदि रागात्मक वृत्तियों का त्याग करके हृदय

को अधिकाधिक उदार व विशाल बनाना होगा। जो भी महापुरुष शाँति की परम स्थिति को पहुंचे हैं, उनके स्पष्ट अनुभव है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य निजी स्वार्थों को भूल कर परहित में अपने स्वार्थों को विसर्जित करता चला जाता है, त्यों-त्यों वह शाँति की मंजिल के समीप पहुंचता है। इसके साथ ही अपने ही स्वार्थ में निरत रहने पर जीवनाकाश को अशांति के बादल ही घेरे रहते हैं। इस रहस्य में आत्मा की मूल प्रवृत्ति का प्रदर्शन हमें मिलता है। आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है और इसीलिये ऐसे कार्य सम्पादित करने में उसे आनन्द व शांति की प्राप्ति होती है, जो उसके नीचे गिराये रहने वाले भार को हल्का करते है। अपने ही दृष्टिकोण से दूसरों के लिये सोचना—यह संकुचित मनोवृत्ति आत्मा को पतन की राह पर नीचे ढकेलने वाली होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आन्तरिक स्थायी शांति का निवास स्वार्थ-त्याग तथा आत्म-बलिदान में ही रहा हुआ है। पहली श्रेणी है कि अपने निजी स्वार्थों की भावना को खत्म कर दिया जाय और तदन्तर दूसरों के व्यापक हित के लिये अपना हर तरह का बलिदान प्रस्तुत किया जाय। यह बलिदान पथ कठोर अवश्य है, किन्तु बाहरी सुख और आन्तरिक शान्ति का कोई सन्बन्ध नही है। आन्तरिक शान्ति की साधना तो आत्मविसर्जन की भावना के साथ ही सफलतापूर्वक की जा सकती है। आत्मविसर्जन की चरम सीमा पर पहुंचने के साथ ही कैवल्यज्ञान प्राप्त होता है और यही कैवल्यज्ञान परम-शान्ति का मुखद्वार है।

आध्यात्मिक-ज्ञान की आवश्यकता

आत्मा के सम्बन्ध में मनन और चिन्तन करना हमारी जिज्ञासा का चरम बिन्दु है। यही ज्ञान की पराकाष्ठा है। आत्मा को पहिचानना ही परमात्मपद को उपलब्ध करना है, जहां से संसार के बदलते हुए भावों का अवलोकन किया जा सके। आत्म-स्वरूप को न पहिचानने के कारण ही आज संसार में इतना अज्ञानान्धकार व दुःख छाया हुआ है।

जीवन में नित्य परिवर्तन होते रहते हैं और विचारों एवं भावनाओं में नई क्रांतियां हो जाती हैं किन्तु यदि हम आत्म-तत्व को गम्भीरतापूर्वक समझने का प्रयास करेंगे तो ज्ञात होगा कि मूलत: जीवन में एक ऐसा केन्द्र-स्थल है, जो शाश्वत, स्थिर और शांत है और जिसे विशाल प्रभंजन, महान् भूकम्प, प्रचंड ज्वालामुखी तथा भौतिकयुग के संहा-रक शस्त्र और बम भी स्पर्श तक नहीं कर सकते। अशांति का तांडव नर्तन भी आत्म-शान्ति को बाधित नहीं कर सकता।

आत्म-शक्ति का अन्तर्दर्शन ही व्यक्ति-विकास की कुंजी है। आत्मिक-शक्ति को प्रकाशित करने का अपूर्व साधन है— आध्यात्मिकज्ञान। आज के जड़वादी-युग ने इस ज्ञान को लुप्त करने के प्रयास किये हैं किन्तु भारतीय संस्कृति-पटल से इसे मिटाया नही जा सकता और जिस दिन यह पुनीत स्थिति पूर्ण रूप से हमारे हृदयों से लुप्त हो जायगी, उस दिन एक सांस्कृतिक प्रलय आयगा, जो मानवता को क्रूर बर्बरता में परिणित कर देगा। अतः सच्चे विकास के लिए हमें आत्म-स्वरूप को यथार्थ अर्थ में

समझ लेने के बाद आध्यात्मिक-ज्ञान द्वारा उसे प्रगति की पावन मंजिल तक आत्मा को पहुंचाना है।

मनुष्य को अपने स्वरूप को समझकर विवेक रखने की आवश्यकता है। संसार में रहते हुए आध्यात्म-ज्ञान संसार से भागना नही सिखाता। वह तो मानव को अनाशक्तियोग की शिक्षा देता है।

आध्यात्म-ज्ञानी 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त को केवल समझता ही नही, अपितु अपने जीवन में उसका यथाशक्य आचरण करता है। वह समझता है कि वह जैसा व्यवहार दूसरों के प्रति करेगा, यदि वैसा ही व्यवहार उसके प्रति भी किया जाय तो उसकी अनुभूति कैसी होगी तथा उसी विचारणा के अनुसार वह अपनी सारी प्रवृतियाँ निर्धारित करता है।

सम्यक् चारित्र का आचरण करो

●

जैनागमों में विस्तारपूर्वक चारित्र-चित्रण का व्याख्यान किया गया है। ज्ञान की महत्ता चारित्र्य के साथ ही कही गई है। बिना चारित्र्य के ज्ञानी की उपमा शास्त्रों में चन्दन के भार को वहन करता हुआ भी गधा जैसे उसकी सुगन्ध को नही समझता, वह तो उसे भार की तरह ही

उठाये फिरता है, उसी तरह आचरणहीन ज्ञान भी भार-रूप ही है। ज्ञान और चारित्र्य के संगम से ही मनुष्य अपने अन्तिम ध्येय तक पहुंच सकता है। ज्ञान के बिना चारित्र्य अन्धा है और चारित्र्य के बिना ज्ञान लंगड़ा, अतः अन्धे और लंगड़े के सहयोग करने से ही दोनों का त्राण हो सकता है। आचरणहीन ज्ञान की तरह ही शास्त्रों में ज्ञानहीन आचरण को भी महत्त्व नहीं दिया गया है। बिना सम्यक्ज्ञान के की जाने वाली कठोरतम क्रियाएं भी चारित्रिक विकास का कारण नहीं बन सकती। लोभी व्यक्ति भी अपने धनार्जन के लिए साधु की तरह शीत, ऊष्ण, वर्षा के कष्ट सह सकता है, पर उनका कोई महत्त्व नहीं। जैसे बिना सुवास के पुष्प का मोल ही क्या? उसी तरह आत्म-भावना बिना तपादिक की क्रियाएं आत्म-विकास में सहायक नही हो सकती। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है कि तपस्यादि आचार का पालन न तो इस लोक में प्रशंसा प्राप्त करने के हेतु करे, न परलोक के सुखों की प्राप्ति के लिए। किन्तु केवल अपने आत्म-विकास के लिए पूर्ण निष्काम भाव से ही करे।

जैन शास्त्रों मे ऐसी किसी भी क्रिया का विधान चारित्र्य की श्रेणी मे नही किया गया है, जिससे किसी भी रूप में मानसिक, वाचिक या कायिक हिंसा होती हो।

कई लोग जैनों द्वारा वर्णित चारित्र्य धर्म को सिर्फ निवृत्ति व प्रवृत्ति का ही रूप बताते हैं किन्तु जैन धर्म निवृत्ति व प्रवृत्ति-उभय रूपक है। प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति का कोई अर्थ ही नहां होता। असत से निवृत्ति करने के

लिए सत् में प्रवृत्ति करनी ही पड़ेगी । जैनागमों में जहाँ बुराई के त्याग का वर्णन है, वही अच्छाई के आचरण का भी । 'कु' को 'सु' में बदल देना ही सच्चा आचरण है । जैन दर्शन में सहजिक योग सुमति का वर्णन है, जिसका अर्थ ही है कि सम्यक् प्रकार से गति करना ।

इस तरह के वर्णित आचरण के अनुसार जो अपने जीवन को ढाल लेता है, उस आत्मा का चरम विकास सुनिश्चित बताया गया है । इस सारे आचरण का मूल हमारे यहाँ विनय को कहा गया है— "विणयो धम्मस्स मूल !"

समय का मूल्यांकन करो

●

समय का समुचित मूल्यांकन ही नियमितता एवं व्यवस्थितता की कुंजी है । जबकि हम देखते हैं कि आज के साधारण जीवन में समय को यथायोग्य महत्त्व नही दिया जाता । जीवन का कोई नियमित व्यवस्था-क्रम ही नही । पैसे की हाय-हाय ऐसी देखी जाती है कि सुबह से लेकर रात तक घाणी के बैल की तरह जुटे ही रहते हैं तृष्णा के पीछे पागल होकर । उन्हें अपने जीवन में शांति का अनुभव ही नही होता और उसका स्पष्ट कारण है कि समय का

सद्विभाजन व सदुपयोग किये विना मानव का मन कभी भी सुखी नही वन सकता । इसी दृष्टि से शायद समय के महान महत्त्व को सुप्रकट करने के लिये महावीर ने निर्देश किया कि——

समयं, गोयम ! मा पमायए…………

हे गौतम ! तू 'समय' मात्र का भी प्रमाद-ग्रालस्य मत कर ।

मनुष्य अपने जीवन के क्रमवद्ध विकास की ग्रोर तभी मुड़ सकता है, जबकि उसे अपने जीवन, अपने विचारों व अपनी प्रवृत्तियों को स्वयमेव भलीभांति पहचानने व परखने का मौका मिले ग्रौर यह तभी हो सकता है कि वह अपने दैनिक कार्यक्रम में कुछ भी निश्चित समय ग्रात्मचिन्तन के लिये निकाल दे । ग्रात्मचिन्तन व ग्रात्मालोचन से अपने जीवन को सुव्यवस्थित बनाने की ग्रोर सुदृढ़ मनोवृत्ति का निर्माण होता है ग्रौर यही मनोवृत्ति बुद्धि को सुष्ठु बनाते हुए जीवन के सभी पक्षों को समुन्नत बनाती है ।

आनन्द-प्राप्ति कब !

●

मन ग्रौर इन्द्रियों की गुलामी छूटकर जीवन का क्रम

आत्मा की आंतरिक आवाज का अनुकरण करने लगे तो वह आनन्द वास्तव में विशिष्ट आनन्द होगा और उसी आनन्द की निरन्तर बढ़ती हुई अनुभूति में आत्मा का पावन स्वरूप निखरता जायगा ।

जब तक यह आनन्द देश, काल और वस्तु की परि-धियों में बन्द रहेगा तब तक वह आनन्द न होकर आनन्दा-भास मात्र रहेगा । क्योंकि देश की अपेक्षा में आप सोचते हैं कि ग्रीष्मकाल में नैनीताल या नीलगिरी शीत प्रदेश होने से आनन्ददायक होते हैं किन्तु वे ही प्रदेश शीतकाल में आपको आनन्ददायक नहीं हो सकते । इसी प्रकार काल और बाह्य का भी हाल है । वह आनन्द एक समय में होगा, एक प्रदेश में होगा अथवा कि एक पदार्थ में होगा किन्तु दूसरे ही समय, प्रदेश या पदार्थ की उपलब्धि होते ही वह नष्ट हो जायगा ।

अतः यह आत्मिक आनन्द देश, काल, वस्तु से रहित वर्णादिक भाव शून्य आत्मा में ही निहित है और उसी में रमण करता हुआ आत्मा आनन्द को प्राप्त होता है ।

आत्मविस्मृति का कारण

●

आत्मस्वरूप के प्रति अनभिज्ञता का एक प्रधान कारण

यह भी है कि हमारे देश का बहुत बड़ा हिस्सा 'अवतार-वाद' में विश्वास करता है। 'यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत' के सिद्धान्तानुसार संसार को संकटों से उबारने के लिये स्वयं ईश्वर ही भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न रूप में अवतरित होते हैं और उन्होंने संसार की गति को सत्पथ की ओर मोड़ा। इसके सिवाय वे लोग यह भी विश्वास रखते है कि वही ईश्वर सृष्टि का कर्ता भी है तथा उसकी मर्जी के बिना धरती का एक भी कण और पेड़ का एक भी पत्ता नही हिलता। मनोवैज्ञानिक रूप से सोचे तो इस मान्यता के द्वारा साधारण जनता में आत्मविस्मृति व अकर्मण्यता का भाव फैलता गया। निज की शक्ति के प्रति अविश्वास समाता गया और यह सोचा जाने लगा कि इस विशाल विश्व में उसका अस्तित्व किसी महत्त्व का धारक नही। इस प्रकार की हीनमान्यता (Inferiority Complex) की भावना ने जनता में फैलने वाली सजगता व चेतनता का विनाश किया और उसे यह मनाने पर मजबूर किया कि परमात्मा ही सब कुछ है,-जो उनकी आत्मशक्तियों से परे एक अलग, विशिष्टतम तथा अनोखी आत्मशक्ति है। किन्तु आज के वैज्ञानिक युग में इस अन्धवादिता से दूर होने की और यह समझने की आवश्यकता है कि हमारा अपना अस्तित्व हमारे लिये क्या महत्त्व रखता है और उसे किस विकास की तरफ ले जाने से प्रगमनशीलता के क्षेत्र में पूर्णतया प्रस्फुटित हो सकता है?

जैनदर्शन के किसी सिद्धांत में अन्धवादिता व प्रतिक्रियावादिता की बू नही मिलेगी। वह न तो अवतारवाद मे ही विश्वास करता है और न ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व मे

ही। वह तो आत्मा की निज की अमित शक्ति पर विश्वास करता है, जिसका चरम विकास ही ईश्वर की प्राप्ति है। जैनदर्शन स्पष्ट कहता आया है कि जीवन का विकास किसी वाह्य शक्ति की प्रेरणा से नहा, अपितु निज में रही हुई शक्ति को पहिचान लेने से होता है। मानव स्वय अपने जीवन का निर्माता और उसके उत्थान-पतन का उत्तर-दायित्व केवल उसी पर है।

चारित्र निर्माण की बात करते हैं तो.....

अपरिग्रहवाद की गहराई में घुसकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि वहां व्यक्ति और समाज दोनों को संतुलित करने का विचार किया गया है। समाज में विषमता, शोषण एवं अन्याय की जननी ममत्वबुद्धि है जो दूसरी तरफ व्यक्ति के चारित्र और आध्यात्म को भी नीचे गिराती है। जिस समाजवादी सिद्धान्त की कल्पना की जाती है वह भी क्या है-- एक तरह से समाज में सम्पत्ति, धनधान्य एवं उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की समान रूप से मर्यादा बांधने की ही तो बात है।

जब साधन-सामग्री का नियमन किया जाये तो निश्चित है कि उसका कम हाथों में संग्रह नही होगा बल्कि

वही संपत्ति और सामग्री अधिकतर हाथों में बिखर जायगी। जीवन निर्वाह के लिये शोषण की आवश्यकता नही होती है, वह तो होती है संग्रह के लिये, इसलिये संग्रह ही समाज मे सारी बुराइयां पैदा करता है। फलस्वरूप समाज के सभी वर्गों पर इस विषमता का कुप्रभाव होता है, अनैतिकता फैलती है।

जहां हम व्यक्ति का चारित्र उठाना चाहते हैं, उसे नीतिमान व संयमशील बनना चाहते हैं, वहां ममत्व को मर्यादित कर दिया जाय व उसे निरंतर घटाते रहने का क्रम बनाया जाये तो निश्चितरूप से समाज में एक कुटुम्ब का-सा भ्रातृत्व व समता का भाव फैलेगा तथा धर्म के क्षेत्र में निष्काम निवृत्तिवाद का प्रसार होगा, जिसका उपदेश भगवान महावीर ने दिया।

इसकी ओर आप लोगों का ध्यान जाय और उस मार्ग पर चलें तथा इसका प्रकाश सारे संसार में फैलाये यह आज के युग की मांग है।

सर्वोदय के लिये क्या करें ?

●

परमात्मा की जय में संसार के सभी प्राणियों की

जय है, चाहे उन प्राणियों में जैन, हिन्दु, मुस्लिम हो या पूंजीपति, मजदूर हो या मित्र–शत्रु व मानव, पशु हो। इस भावना का नाम ही सर्वोदयवाद है। सब का उदय हो, सब मानवता के रहस्य को समझकर अपनी अन्यान्य-पूर्ण विशेषताओं को छोड़ें और विश्वबन्धुत्व की स्थापना करे, इसी में परमात्मा की जय बोलने का सार रहा हुआ है। आज हम अपनी जय चाहते हैं किन्तु अपने विरोधी शत्रु की जय नहीं चाहते हैं, उसका विनाश देखने की उत्सुकता रखते हैं, यही अज्ञान है और परमात्मा के स्वरूप को वास्तविकता से नहीं समझने का फल है। परमात्मा के स्वरूप को पहचानने वाला सच्चा भक्त अपनी जय नहीं चाहता। वह तो समस्त प्राणियों की जय में ही अपनी जय समझता है। सभी पर उसकी समता भरी दृष्टि होती है।

मेरे कहने का निष्कर्ष यही है कि सर्वोदयवाद के महत्त्व को समझें और परमात्मा की जय बोलने में सब प्राणियों के साथ साम्यदृष्टि को अपनायें। वैभव और शरीर आदि सब नश्वर हैं, एक दिन नष्ट हो जायेंगे और साथ रह जायेगा वही जो कुछ किया है। समाज की संघर्षमय विषमता को मिटाने के लिये शोषण का हमेशा के लिये खात्मा कर दिया जाये। इसके लिये अपनी वासनाओं और आवश्यकताओं को सीमित करना चाहिये और अपने वैभव का अमुक हिस्सा दानादि शुभ कार्यों के लिये निर्धारित किया जाना चाहिये। समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझें, सबसे प्रेम करें, सबकी रक्षा करें, यही सर्वोदयवाद है।

जब तक एक भावनापूर्ण वातावरण की सृष्टि नहीं

होगी तब तक समाज में परस्पर व्यवहार की रीति-नीति समान व सम्यक् नहीं बनेगी। अतः आज के युग की मांग है कि जैनधर्म के पुनीत सिद्धांतों का आचरण किया जाये। उनके आचरण का अर्थ होगा कि आप समानता के अनुभव को हृदय में जमा लें और समाज के विभिन्न क्षेत्रों में उसका व्यावहारिक प्रयोग करें। मानव के मानवोचित सम्यक् कर्तव्यों का पुंज ही तो धर्म है जो समाज में बंधुता और ममता की धारा बहाते हुए आत्म-विकास की दिशा में पराक्रमशाली बनाता है।

यही सर्वोदय के विकास का मूलाधार है। इसी ओर लक्ष्य देने और उसके अनुकूल जीवन-व्यवहार करने से सर्वोदय की भावना को सफल बनाया जा सकता है।

जीवन के केन्द्र-बिन्दु

●

जीवन के आचार-विचार इन तीन केन्द्रबिन्दुओं पर आधारित हैं—अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्तवाद। ये तीनों बिन्दु जीवन को पूर्ण बनाने वाली सीढ़ियां हैं।

जैनधर्म का हृदय है—अहिंसा। जैनधर्म में अहिंसा का जो स्वरूप-दर्शन तथा निरूपण किया गया है, वह सर्वा-

धिक सूक्ष्म है । अहिंसा की आराधना के लिए मन, वचन और काया इन तीनों में एक साथ शुद्धि की आवश्यकता है । इन तीनों में अहिंसा वृत्ति के सहज प्रवेश पर ही अहिंसा धर्म का सुचारु रूप से पालन किया जा सकता है। अहिंसा का साधन वीरों का है । कायर तो सबसे पहले मानसिक हिंसा से ही अधिक पीड़ित है । ऐसा व्यक्ति मानसिक हिंसा से दूसरों को तो गिरा सके या नहीं, किन्तु अपने आपको तो बहुत गहरे अवश्य ही गिरा डालता है ।

परिग्रह की व्याख्या है-- मूर्च्छा परिग्रहः । पदार्थों का नाम परिग्रह नहीं, उनमें ममत्व रखकर आत्मज्ञान से शून्य हो जाना परिग्रह कहा गया है । जब जड़ पदार्थों में वृद्धि बढती है और प्राणी अपने चेतन तत्व को भूलता है, तब उसको परिग्रही कहा है । ममत्व जब मनुष्य के मन में जागता है तो आत्मा को कलुषित करनेवाले सैकड़ों दुर्गुण उसमें प्रवेश करने लगते हैं । शोषण एवं अन्याय की जननी ममत्व बुद्धि है जो दूसरी तरफ व्यक्ति के चरित्र और अध्यात्म को भी नीचे गिराती है ।

किसी भी वस्तु या तत्व के सत्य स्वरूप को समझने के लिए हमें स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) सिद्धांत का आश्रय लेना होगा । एक ही वस्तु या तत्व को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है और इसीलिए उसमें विभिन्न पक्ष भी हो जाते हैं । अतः उसके सारे पक्षों व दृष्टिकोणों की दृष्टि को समझकर उसकी यथार्थ सत्यता का दर्शन करना इस सिद्धांत के गहन चिन्तन के आधार पर ही संभव हो सकता है ।

सत्य का साक्षात्कार जीवन का चरम साध्य है। जीवन उन अनुभवों व विभिन्न प्रयोगों का कर्मस्थल है, जहां हम उनके जरिये सत्य की साधना करते है। जीवन के आचार-विचार की सुघड़ता व सत्यता में व्यक्ति, समाज व विश्व की शांति रही हुई है। अतः आज आचार-विचार की उदारता, पवित्रता की प्रेरणा के लिए अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद के सिद्धान्तों को समझने, परखने और अमल में लाने की आवश्यकता है।

मानव जीवन की विशिष्टता का आधार

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणिय जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, सजमम्मिय वीरीय॥

विश्व के समस्त प्राणियों में मानव जीवन का स्थान सर्वोच्च है, इसीलिये शास्त्रकारों ने भी उसे दुर्लभ कह कर पुकारा है। परन्तु यह गम्भीर विचार का प्रश्न है कि मानव जीवन की यह सारी विशिष्टता किस भूमिका पर टिकी हुई है, क्योंकि उसका स्पष्टतः ज्ञान होने पर ही किसी वस्तुस्थिति के मूल से लेकर उसके पूर्ण विकास-क्रम को पहिचाना जा सकता है। जब भूमिका के विषय में ही अस्पष्ट धारणा हो तो तत्सम्बन्धी विकास और उपयोगिता

की पूरी जानकारी नहीं होगी और जिसका परिणाम हो सकता है—पूर्ण स्वरूप से अनभिज्ञता। मानव जीवन के सम्बन्ध में भी आज कई गलत धारणाएँ प्रचलित है, जिससे इस जीवन के अमूल्य होने का भान नही होता एवं उसे उस दृष्टि से सार्थक बनाने के प्रयास नही हो सकते।

यहां मानव जीवन के सम्बन्ध में उन धारणाओं की मीमांसा की जा रही है, जिनके कारण मानव जन्म पा लेने पर भी मानवता की प्राप्ति नहीं होती। मानव का रूप मिल जाना एक बात है किन्तु भावनात्मक दृष्टिकोण से मानवता प्राप्त कर लेना कतई दूसरी बात। मानव में जिन सद्‌गुणों का सद्‌भाव होना चाहिये, यदि वे विकसित नही होते, तो मानव जीवन भी पशुवत् ही है।

अगर कोई मानव जीवन की विशिष्टता उसके शारीरिक बल में स्थापित करता है तो यह स्वाभाविक प्रतीत नही होगा। क्योकि चिंघाड़ते हुए मदमत्त हाथी, वन-प्रदेश को अपनी भीषण गर्जना से कम्पायमान बना देने वाले सिंह और विकराल रूप-धारी अन्य जगली जन्तुओं के समक्ष वेचारे मानव शरीर का वल ही क्या ?

मनुष्य ने यदि अपने रूप और सौन्दर्य में मानव जीवन की विशेषता मान रखी है तो वह भी व्यर्थ है। रूप आखिर क्या है ? यही तो कि मिट्टी के पुतले पर जो रंग-रोगन किया हुआ है ? जो समयरूपी वर्षा की वौछार लगते ही धुल जाता है। तरुणाई में निखरा हुआ सौन्दर्य चार दिन वाद झुलस जाता है। आज का छलछलाता हुआ रूप का

प्याला कल जरा-से काल के झोंके से ढुलक जाता है। इसलिये रूप का अभिमान पतन का चिह्न है।

इसके अतिरिक्त परिवार और वैभव से भी मानव जीवन की कोई प्रतिष्ठा नही। रावण के विशाल परिवार एवं स्वर्णिम लंकापुरी के वैभव का क्या कहना? और क्या, कोटि यादव एक दिन भारत के भाग्यविधाता नही बने हुए थे? किन्तु क्या सभी विनाश के विशाल गर्भ मे विलीन होने से बच गये? नही, ऐसा नही हो सका।

जीवन के दो पहलू

●

वास्तव में जीवन एक साधन स्वरूप है, जिसे किसी निश्चित साध्य के पीछे विसर्जित कर देने में ही उसकी विशेषता रही हुई है। यदि साध्य तक पहुंचने में साधन शिथिल व अयोग्य प्रतीत होता है तो साधन के प्रति साधक को सचेत होने की आवश्यकता होती है। जीवन का साध्य मुक्ति है। जो आत्मा का मूल स्वभाव है। आत्मा को विकारों के मल से मुक्त करके उसी परमशुद्धता में स्थायित्व ग्रहण करने का नाम मुक्ति है। मुक्ति साध्य, जीवन साधन और आत्मा साधक है। साध्य गतिशील नहीं होता, वह तो सुनिश्चित होता है अत: उसके प्रति दृष्टि ठहरा

कर साधक को अपने साधन काम में लेने होते हैं । साधक को साधन में परिवर्तन व शुद्धिकरण भी उसी केन्द्रबिन्दु के अनुसार करने होते हैं । अतः हमारे लिये मुक्ति साध्य है, परन्तु उसके साधनों में विभिन्न परिवर्तन होते रहते हैं । इसी वात को लेकर हमारे जीवन की समस्या पर हमें गहराई से सोचना चाहिये और इस सत्य को समझ लेना चाहिये कि हम अपने जीवन को कैसे पथ की ओर अग्रसर करे ताकि हमें अपना मुक्ति का उद्देश्य प्राप्त हो सके ।

अध्यात्मवाद का स्पष्ट मत है कि जो निजात्म को पूर्ण रूप से पहिचान लेता है, उसके लिये मुक्ति का मार्ग आसान हो जाता है । अपने आत्मभावों में रमण करने से निज की शक्ति का अनुभव होता है और उस अन्तर्शक्ति की अद्भुत प्रेरणा से उसमें ऐसा साहस केन्द्रित हो जाता है, ऐसा ज्ञान और क्रिया का सम्मिलन हो जाता है कि फिर उसके मार्ग की वाधाएं नष्टप्रायः हो जाती है । आत्म-रामी होने से अपने जीवन का उत्थान मार्ग तो शोधा ही जाता है परन्तु उसके साथ ही आत्मशक्ति और उसके संचालन का ऐसा दृढ़ अनुभव होता है कि जिसके द्वारा अन्य आत्माओं के मनोभावों और प्रवृत्तियों को समझने का ज्ञान उत्पन्न होता है । अनुभव ही यथार्थतः किसी भी क्षेत्र की गहराई को पहचानने की कसौटी का काम करता है और इसी तरह आत्मसाधना की परिपक्कता के फलस्वरूप आत्मा आत्मरामी से अन्तरयामी वन जाता है ।

पुरुषार्थ करो !

पापपूर्ण आर्थिक व्यवस्था की बुनियाद में यह भावना काम कर रही है कि पुरुषार्थ और श्रम न किया जाय। प्रायः हर व्यक्ति यह चाहता है कि वह व्यापार, नौकरी या सट्टा आदि ऐसा व्यवसाय पकड़ ले कि मेहनत तो कम-से-कम करनी पड़े और लाभ अधिक-से-अधिक पैदा हो सके। जब मनुष्य श्रम से दूर भागता है तो उसमें दूसरे की वस्तु छीनने की भावना होती है, क्योंकि आवश्यकताओं को तो वह दबाता नही, बल्कि किन्ही अंशों में बढ़ाता है और वैसी स्थिति में शोषण और मुनाफा वृत्ति की नीव जमती है।

विकास की राह पर आगे बढ़ने का यह विशिष्ठ उपाय है कि आप लोग स्वावलम्बी बनें, स्वावलम्बन द्वारा अपने ही पैरों पर खड़े होवें। तभी आपको दूसरों का सम्मान भी प्राप्त हो सकता है। ऊपर की चटक-मटक और बाहर के आडम्बर से किसी को क्षण भर के लिए धोखा देकर अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है, किन्तु वास्तविक सरलता व श्रम की भावना के बिना ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर की तरह किसी के हृदय को स्थायी रूप से प्रभावित नही किया जा सकता। आडम्बर टिक नही सकते, उन्हें स्वप्नों के समान नष्ट होना पड़ता है। यह तो अपने जीवन के प्रति गहराई से सोचने और समझने की बात है। जो पुरुषार्थी नही, उन्हें समाज भले ही क्षण भर के लिए अपनाता दीखे, किन्तु अन्ततोगत्वा वे सब बुरी तरह फेंक दिये जाते है।

आलसी आदमी ही नाना प्रकार के बहाने बनाते हैं और नाना तरह की युक्तियां देकर अपनी आदतों की पुष्टि करते हैं। 'भाग्य में जो होगा, वही होगा' यह भी आलस्य की ही मूल भावना है। भाग्य भी तो मनुष्य का ही बनाया हुआ होता है और इसलिए मनुष्य उसे बदल भी सकता है। जीवन के ह्रास और विकास में भाग्य मुख्य नही है, पुरुषार्थ और श्रम प्रधान कारण है। परिश्रम से दूर भागने वाले अधिकतर भाग्य की दुहाई देकर अपनी आलस्यवृत्ति को छिपाना चाहते हैं। साहस के साथ आगे बढ़ने वाले भाग्य को नही देखते, वे तो एकमात्र कर्त्तव्य पर अपना अधिकार समझते हैं और कर्त्तव्य की एक-निष्ठा तथा पुरुषार्थी प्रतिभा से भाग्य के बहाव को भी मोड़ देते है। भाग्य और पुरुषार्थ की टक्कर में पुरुषार्थ की ही विजय होती है।

आलस्य दुःख और पौरुष सुख

मैं कई वार सोचता हूं और इस निर्णय पर पहुंचता हूं कि मनुष्यों का जीवन स्वावलम्बी बने और वे पुरुषार्थ से अपना जीवन निर्वाह करने में स्वतन्त्र हों, तब ही वे सही रूप में धर्म का पालन कर सकते हैं और साधु भी अपनी साधना में शुद्धि बनाये रख सकते हैं।

सभी खराबियों व बुराइयों का मूल आलस्य है। पुरुषार्थ करने की शक्ति होते हुए भी जो आलस्य में माग खाते है, उनकी भिक्षा पौरुषहरि भिक्षा है। आज मैं आपसे प्रश्न करूं कि भारत के लोग इतने आस्तिक है, फिर भी इतने दुखी क्यों है ? इसकी तह में उतरे तो यही पायेंगे कि दूसरों के पसीने पर गुलछर्रे उड़ाने की भावना ने घर कर लिया है, पर यह सबसे बड़ा पाप है। दुनियां में सभी पापों की जड़ आलस्य है, अधिकाश चोरियां, लड़ाइयां व अन्य अनैतिकता के कार्य भी इसी आलस्य के कारण ही होते हैं।

जिस तरह मस्तिष्क की मशक्कत के लिये ज्ञान व विचार की आवश्यकता है, उसी तरह शरीर–स्वास्थ्य के लिए शारीरिक श्रम भी जरूरी है। शरीर-श्रम के बिना मस्तिष्क की गति भी सुस्थिर नही रह सकती। इस तरह शरीर-श्रम की सबके लिए अनिवार्यता समाज में एक महत्त्व-पूर्ण स्थिति है। जैसे शरीर में रक्त संचरण बंद हो जाये तो लकवा होता है या हार्टफेल, उसी तरह सबके शारीरिक श्रम न करने से समाज मे भी एक तरह का पंगुपन पैदा होने लगता है।

आलसी आदमी ही नाना प्रकार के बहाने बनाते हैं और नाना तरह की युक्तियां देकर अपनी आदतों की पुष्टि करते हैं। 'भाग्य में जो होगा वही होगा'—यह भी आलस्य की ही मूल भावना है। भाग्य भी तो मनुष्य का ही बनाया हुआ होता है और इसलिए मनुष्य उसे बदल भी सकता है। जीवन के ह्रास और विकास में भाग्य मुख्य नही है, पुरु-

षार्थ और श्रम प्रधान कारण है।

अतः मैं फिर दोहराऊंगा कि समाज व धर्म के सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ने व सुखी बनने का यह सीधा मार्ग है कि प्रत्येक व्यक्ति पुरुषार्थी बने। सत्पुरुषार्थ वृत्ति जीवन विकास की निश्चित सीढ़ी है।

वर्तमान विश्व की एक झलक

●

कर्मण्यता की भूमिका पर ही व्यक्ति, समाज व राष्ट्र का उत्थान सम्पादित किया जा सकता है। वैभव और विलास तो पतन के कारण बनते है क्योंकि विलासिता का दूसरा नाम निकम्मापन भी है। विलासी कायर होता है, वह विपदाओं से लड़ नहीं सकता और अपनी हीन आसक्तियों से ऊपर नहीं उठ सकता।

क्रोधरूपी काली नाग अपने तीव्र विषदन्त से सरल प्राणियों में कटुता भर रहा है व संसार में अनेक अनर्थ करवा रहा है। तृष्णा रूपी पूतना राक्षसी दूध पिला कर आत्मबल को जैसे मार देना चाहती है। लोग संयम, नियम, नीति से विमुख होकर ऐश्वर्य बढाने की प्रतिद्वन्द्विता में लगे है। भ्रष्टाचार की महामारी-सी फैली हुई है।

अभिमान रूपी कंस सारे विश्व को ग्रस रहा है। लोग धन या सत्ता बल पा जाने पर अपने आपको भूल स्वेच्छाचारिता की ओर मुड़ जाते हैं एवं निर्बलों के अधिकारों को हड़पने व उनका शोषण करने में आनन्दानुभव करते है। मोहरूपी जरासंध आज अन्याय का कारणभूत हो रहा है क्योंकि मोह मे मनुष्य को एकान्त बुद्धि हो जाती है और वह सत्यासत्य के सद्विवेक से विमुख होता चला जाता है। लोभरूपी दुर्योधन साधनों को केन्द्रीभूत कर सच्चे हकदारों को भी 'सुई की नोक के बराबर भूमि' देने को तैयार नही। लोभ को शास्त्रों मे काल कहा है और यह पाप का बाप भी कहा जाता है क्योंकि इसी के वशीभूत होकर मनुष्य अत्यधिक स्वार्थी और हीनस्वभावी हो जाता है।

आज ये सारी कुटिल मनोवृत्तियाँ खुलकर खेलती हुई देखी जाती है और ऐसे जटिल समय में सत्य स्वरूप हृदय में जगाया जाय और उन कुविचारों एवं असद् प्रवृत्तियां पर विजय प्राप्त करने की अमिट शक्ति पैदा की जाय। जीवन के इस विशाल क्षेत्र में सद्कर्म करते जाइये, निरपेक्ष और निःस्वार्थ होकर तो लौकिक व आत्मिक उत्थानों की मंजिल दूर नही रहेगी। इसी सन्देश को आज के दिन सब को सुनना और समझना चाहिये तभी किसी प्रकार की सार्थकता हो सकती है।

आज की आवश्यकता

यह दु:ख का विषय है कि देश में त्याग की भावना का ह्रास होता जा रहा है। छोड़ देने की भावना के वजाय ले लेने की भावना का अधिक प्रसार होता हुआ देखा जा रहा है। स्वार्थ का महादैत्य लोगों के हृदयों पर छा गया है और इसीलिये त्याग नही, भोग की भावना प्रबल बन रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ऐसी विकृत अवस्था वनती जा रही है, जिसे सुधारे बिना भारतीय संस्कृति की गौरवान्वित परम्परा का निर्वाह नही किया जा सकेगा।

आज चारों ओर देखने से जैसे ऐसा लगता है कि कर्त्तव्य की वृत्ति लुप्त हो रही है और अधिकारों की लोलुपता बढ़ रही है। परन्तु यह सोचने की बात है कि कर्त्तव्यों की नैतिक भूमिका पर ही अधिकारों का जन्म होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि धोखा देने वाले 'बकवास' वहुत वढ़ गये है। नेता भी वक्तव्यों पर वक्तव्य देते हैं, योजनाओं के कागजी घोड़े दौड़ाते हैं और देश के महान विकास का स्वप्न दिखाते हैं। लेकिन समझ में नहीं आता कि जव त्याग का अभाव हो रहा है तो किसके संयम और नैतिकता के वल पर देश का विकास हो सकेगा ?

इधर जनता भी अधिकार मांगती है, अपने कर्त्तव्यों की ओर नहीं निहारना चाहती। कर्त्तव्यों ही से अधिकार की प्राप्ति होती है और वे अधिकार नागरिक के हों अथवा शासक के ? क्योंकि कर्त्तव्यों का तात्पर्य भी एक दृष्टि से

दूसरों की सुख-सुविधा के लिये अपना त्याग करना है—सबके समान सुख के लिये अपने आपको सबमें त्यागमय बना देना है। जब कोई दूसरा एक नागरिक के लिए त्याग करता है, तो वही उसका अधिकार हो जाता है। एक का कर्त्तव्य दूसरे का अधिकार होता है। मूल वस्तु तो कर्त्तव्य है— त्याग है, जिसके आधार पर सार्वजनिक सुख व कल्याण की भित्ति चिरस्थायी रह सकती है।

आज के मानव के पीछे स्वार्थ का महादैत्य इस बुरी कदर पड़ा है कि उसे अपने कर्त्तव्यों का भान नहीं रहता। उसे तो भान होता है अपनी स्वार्थपूर्ति का—फिर भले ही उसमें किसी का कितना ही नुकसान क्यों न होता हो ? यही नहीं, गुरुदेव से आशीर्वाद मांगा जाता है, परमात्मा से प्रार्थना की जाती है कि वे उसे सुखी बनावें किन्तु आप विचार करें कि वह सुख कैसा हो ? क्या आज का मानव अधिकांशतः वैसे सुख की कल्पना नहीं करता, जिसकी रचना दूसरों के शोषण के आधार पर निर्मित होती हो ? और अगर ऐसा है तो वर्तमान मानव के मानस का यह नग्न अन्तर्चित्र बदलना होगा—उसमें आत्मविकास की प्रकाश-रेखाएं खींचनी होंगी।

आज उस महान् आदर्श को भुलाया जा रहा है कि अपना सब कुछ निछावर करके भी दूसरों की सहायता करो। यही कर्त्तव्य है, यह भी त्याग है और यह भी धर्म है।

युग की मांग है

जगत का प्रत्येक प्राणी अपने जन्म से किन्हीं आशाओं, इच्छाओं न वासनाओं को पालता-पोसता है तथा जीवन भर उनकी पूर्ति-हित संघर्ष करता रहता है। मनुष्य इसके पागलपन में अन्धा हो जाता है। तब उसकी जीवन-शांति में अशांति के भीषण अन्धड़ आया करते है, जो केवल उसके जीवन को ही अशांत नहीं बनाते बल्कि सारे समाज के लिये भी अभिशाप रूप बन जाते है। एक-पर-एक तृष्णायें उठती जाती हैं, जिनकी पूर्ति में मनुष्य हर बुरा-से-बुरा तरीका काम में लाकर समाज में शोषण, अन्याय और उत्पीड़न की भयंकर आग जलाता है।

तृष्णा के इस विषाक्त व्यापक प्रसार के कारण दरिद्रता घर कर गई है। इस दरिद्रता में आज मानवता पिस रही है और पशुता का नंगा नाच हो रहा है। अतः इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ेगा कि इस दरिद्रता व दुःख का मूल कारण तृष्णा ही है, जिसकी गुलामी आत्म-हित व पर-हित घातक है। किन्तु इसके विपरीत तृष्णा को जो अपनी दासी बना लेता है, संसार उसका दास हो जाता है।

स्वेच्छापूर्वक तृष्णा का त्याग करके सादगी को अपनाने वाला ही महापराक्रमी होता है। प्राप्त साधनों का व्यापक लोकहित के लिये परित्याग कर देने में ही त्याग की वास्तविक महत्ता रही हुई है। आज विश्व को भौतिकवादी क्रूरता से मुक्त होने के लिये तृष्णा-त्याग, मानव-प्रेम

और विश्व-बन्धुत्व की आवश्यकता है, जो मानव-समाज में समता व बन्धुता का वातावरण प्रसारित कर सके।

यह करना ही होगा

●

आज मनुष्य को अपने दुःख और पतन के कारण ढूंढने ही होंगे, क्योंकि अपने हिताहित से भान रहने की भी एक सीमा होती है और उससे आगे निकल जाने पर तो पतन से निकल आने की सभी सम्भावनायें शिथिल हो जाती हैं। आज संसार की गति भी तेजी से उसी सीमा के समीप सरकती जा रही है और यदि इस समय सम्यक् चेतना और सजगता का प्रसार नही किया गया तो संसार महापुरुषों की प्रदत्त विचार-निधि को खोकर असभ्यता और असंस्कृति के अन्धकार में भटकता ही रह जायेगा।

आज चारों ओर देखने से जैसे लगता है कि कर्त्तव्य की वृत्ति लुप्त हो रही है और अधिकारों की लोलुपता बढ़ रही है। परन्तु यह सोचने की बात है कि कर्तव्यों की नैतिक भूमिका पर ही अधिकारों का जन्म होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धोखा देने वाले बकवास बहुत बढ़ गये हैं, नेता भी वक्तव्यों पर वक्तव्य देते हैं।

आज के मानव के पीछे स्वार्थ का महादैत्य इस बुरी कदर पड़ा है कि उसे अपने कर्त्तव्यों का भान नहीं रहता, उसे तो भान होता है अपनी स्वार्थपूर्ति का—फिर भले ही कितना ही नुकसान क्यों न होता हो ?

समाज का तथ्यात्मक वातावरण पुकार—पुकार कर कहता है कि आज अपने जीवन में त्याग का सर्वोदय करने की आवश्यकता है ताकि स्वार्थों का भीषण अन्धकार कट जाये। आज न तो सिर्फ बाह्य वेश-रूप त्याग का ढोंग या पाखण्ड चलेगा और न त्याग को किसी सीमित दायरे में बंद रखा जा सकेगा, उसे तो सब ओर प्रसारित कर देना है।

जहां सुमति .....

विश्व की समस्त समस्याओं का, चाहे वे किसी भी क्षेत्र की हों, मूलतः एक ही हल है और वह है बौद्धिक तथा नैतिक। राजनीतिक व आर्थिक समस्याएं समाज-विकास में बाधक अवश्य बन सकती हैं, किन्तु बौद्धिक परिपक्वता व नैतिक सहृदयता के अभाव में उक्त समस्याओं का हल भी समाज में सच्चे सुख व स्थायी शान्ति की सृष्टि नहीं कर सकता। पूर्ण स्वतन्त्रता एक २ व्यक्ति के अपने कर्त्तव्य व अधिकारों के प्रति विवेकपूर्ण ढग से सजग होने

में ही उपलब्ध हो सकती है। जब तक बुद्धि का अभाव व उसकी विकृति का अस्तित्व रहेगा, समाज में शोषण, उत्पीड़न तथा अन्याय की समाप्ति असम्भव है।

सम्पत्ति की प्राप्ति सुमति पर निर्भर है। वह सम्पत्ति चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, लेकिन दोनों की प्राप्ति का उद्देश्य बनाने से पहिले यह सोच लेना चाहिये कि अगर सुबुद्धि से–विवेक से काम नहीं लिया गया तो आध्यात्मिक सम्पत्ति तो मिल ही नही सकती और एक बार भौतिक सम्पत्ति घातक तरीकों से मिल भी गई तो वह टिक नही सकती एवं बड़े बुरे परिणाम दिखाकर खत्म हो जायगी।

आज चारों ओर दिखाई देता है कि अधिकतर सम्पत्ति प्राप्ति (भौतिक) की दौड़ लगी हुई है, किन्तु पहले सुमति प्राप्त हो—इसकी ओर बहुसंख्यकजनो का लक्ष्य नही है। बल्कि सम्पत्ति प्राप्ति में कुमति से ही अधिक काम लिया जाता है और उसका परिणाम आज समाज में फैली अनैतिकता, असमानता व अव्यवस्था में देखा जा सकता है। जो सम्पत्ति कुमति से प्राप्त की जाती है, वह कभी भी शान्तिदायक नही हो सकती, वरन् वह तो अन्त में कभी-कभी विनाश का कारण हो जाती है।

जैसा कि मैं ऊपर कह-चुका हूं कि सारे संसार की आधारगत समस्या बौद्धिक व नैतिक है, सुमति संपादन में संसार का विकास समाया हुआ है। मति बौद्धिकता की ओर इन्गित करती है तथा उसके पहले लगा हुआ 'सु'

नैतिकता को सम्मिश्रित करता है अतः 'सुमति' यह मूल समस्या है और यदि हमको हमारा निज का भविष्य और समाज का भविष्य उन्नत व आदर्श बनाना है तो हमें सुमति-सम्पादन करने में लग जाना चाहिये ताकि इस कलियुग के स्थान पर सतयुग का निर्माण किया जा सके ।

सुमति-प्राप्ति का सरल साधन

विकास की मूल आधारशिला सुमति—श्रेष्ठ बुद्धि पर टिकी हुई है तथा प्रयोजन का निर्धारण व निर्णय सदैव बुद्धि की भूमिका पर ही होता है । इसलिये अगर बुद्धि 'सु' हुई तो वह गति को विकास-पथ की ओर मोड़ देगी तथा बुद्धि की मलीनता व कुत्सितता जीवन को पतन के गड्ढे की ओर ढकेलती है । इस दृष्टिबिन्दु से सुमति जीवन की प्रगति की प्रमुख साधिका होती है ।

अब यह देखना जरूरी है कि ध्येय की तरफ अग्रसर कराने वाली 'सुमति' की प्राप्ति कैसे हो सकेगी ?

भंवरा सदैव फूलों की सुवास की ओर ही मुड़ता है, वैसी ही तन्मयता सुमति प्राप्त करने के लिये आवश्यक है । परन्तु ऐसी तन्मयता नियमित एवं व्यवस्थित जीवन-क्रम से ही प्राप्त हो सकती है ।

नियमितता का मूल-मन्त्र है कि प्रत्येक कार्य को यथा-समय सम्पन्न कर लिया जाय। अगर इस कथन को ही पूर्णतया हृदयंगम कर लिया जाय तो दिशासूचक यन्त्र की सूई की तरह जीवन के कठिन क्षणों में भी अपने लक्ष्य के प्रति सफल संकेत करता रहेगा।

नियमित व व्यवस्थित जीवन का यह अवश्यंभावी प्रभाव होता है कि विकास का प्रवाह सुयोग्य विचारों के साथ स्वयमेव ही फूट पड़ता है। किन्तु इस स्थिति के अभाव ने आज चारों ओर विकृति की काली छाया फैला रखी है।

समय का सर्वोत्तम उपयोग करने वाला व्यक्ति ही अपनी सच्ची प्रगति साध सकता है।

तात्पर्य्य यह है कि जीवन को नियमित व व्यवस्थित रखने वाला व्यक्ति विकास की तरफ आगे-आगे कदम बढ़ाता रहता है।

इसलिए मैं यही कहना चाहूंगा कि आप समय को व्यर्थ में न गुमावें तथा उसे अपने जीवन को नियमित व व्यवस्थित करने में लगावें ताकि आप अपने अन्तर का सम्यक् अवलोकन कर सकें।

यह कभी न भूलें

संसार के वर्तमान गतिक्रम पर नजर डाली जाय तो दिखाई देता है कि किन्हीं अंशों में आज कंस की वृत्ति का साम्राज्य छाया हुआ है। सांसारिक वैभव को प्राप्त करने की कुटिल होड-सी लगी हुई है, जिसमें अपनी प्रवृत्तियों के न्याय-अन्याय का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। यह सोचना कर्त्तव्य की सीमा के अन्दर ही नहीं समझा जा रहा है कि जो कुछ अर्जन व प्राप्त किया जाता है, काश, वह न्याय से उपलब्ध हुआ है या अन्याय से? इसी का फल है कि भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, रिश्वतखोरी आदि अनेक असामाजिक प्रवृत्तियां समाज व देश के नैतिक स्तर को निरन्तर नीचे गिरा रही हैं। पिता-पुत्र और भाई-भाई तक इस दौड़धूप में अपने कर्त्तव्यों को भूल रहे हैं, तो अपने करोड़ों राष्ट्रबन्धुओं के हितों की ओर ध्यान देना तो कठिन प्रतीत हो ही सकता है।

आज यह देखने की जरूरत है कि भोग-पिपासा की क्रूर अन्धता में संसार के निर्बल एवं असहाय प्राणी पिसे जा रहे हैं। जिस प्रकार कंस ने अपनी शक्ति का उपयोग पिता की सेवा व जनता की रक्षा में न करके सिर्फ अपने स्वार्थों व अहं की पूर्ति में किया, उसी तरह आज भी समाज के अधिकतर लोग व्यवहार करते व उसी में सुखानुभव समझते देखे जाते हैं। फलस्वरूप चारों ओर शोषण एवं उत्पीड़न के कारण त्राहि-त्राहि-सी मची हुई है।

इस अवसर पर यह तथ्य मनन किया जाना चाहिये

कि अन्यायोपार्जित वैभव स्थायी रहने वाला नहीं है। जब तक आपका पुण्य फलोदय शेष हैं, आप कुछ करें— उसके दुष्परिणाम आपके सामने नही आते है किन्तु इससे यह समझने का प्रयास करना उचित नहीं कहा जा सकता कि आपकी सारी प्रवृत्तियां न्यायानुकूल है। प्रकृति में विलम्ब हो आता है किन्तु उसके नियम का क्रम नहीं टूटता और तो क्या, चक्रवर्ती, वासुदेव जैसे भी महान् वैभवशाली पुरुप हुए परन्तु उनका वैभव भी यही धरा रह गया। मोहम्मद गजनवी ने सत्रह बार भारत भूमि को पदाक्रांत किया व अगणित वैभव लूटा, किन्तु मरते समय तो वही "सब ठाठ पड़ा रह जायगा, जब लाद चलेगा बनजारा" हुआ। कोई भी उसे मृत्यु से न छुड़ा सका। वैभव की भूख आखिर जाकर पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसा डालती है। अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि निज के समाज के नैतिक स्तर को ऊपर उठाकर जीवन का सत्य-साधनों से सर्वोच्च विकास करने का सत्प्रयास किया जाय।

प्रार्थना की शक्ति

●

प्रार्थना एक परम पवित्र दैनिक अनुष्ठान है और सभी आध्यत्मिक नेताओं ने इसके महत्त्व को स्पष्ट किया है तथा इसके आचरण पर जोर दिया है।

प्रार्थना में एक ऐसी विशिष्ट शक्ति है जो हमें श्रद्धाशील बना देती है। उन महान् आत्माओं के गुण-गानों से जिन्होंने उत्कृष्टतम शुद्धावस्था रूप परमात्मपद को प्राप्त कर ईश्वरत्व धारण कर लिया है और जो सांसारिकता से सर्वथा विमुक्त होकर निजानन्द में तल्लीन हो गये है, प्रभावित होकर हम भी हमारे जीवन के लिये उसी लक्ष्य तक पहुंचने की जो आदर्श कामना करते हैं, उसी अपने आत्मा के प्रति की गई याचना का नाम ही प्रार्थना है। साधारण मनुष्यों की बुद्धि इतनी सूक्ष्म नही होती है कि योगी की तरह केवल शास्त्रों में वर्णित रहस्यपूर्ण जटिल सिद्धांतों को समझ कर उनके आधार पर ही अपने विकास का मार्ग शोध निकालें। अतः प्रार्थना इसलिए करनी चाहिएं और वह भी उसकी दैनिक आदत होनी चाहिये कि उन विशिष्ट विभूतियों का जीवन-स्वरूप अर्थात् उनके आत्मविकास का मार्ग हमारे मस्तिष्क पटल में स्पष्ट तौर पर अंकित हो जावे। यही जीवन-सत्य प्रार्थना हमारे समक्ष प्रकट करनी है।

श्रद्धा और बुद्धि की प्राप्ति हित हम परमात्मा की प्रार्थना करते हैं, किन्तु आत्मा से कहा गया है कि, हे आत्मा! तब तक तू अर्जुन की तरह एकाग्र होकर लक्ष्य व लक्षी के सिवाय सभी वस्तुओं को अपनी दृष्टि से हटा नही लेगा, तब तक निजत्व का उद्धार व पूर्ण विकास करना अवश्य ही दुष्कर रहेगा।

अतः सत्य अर्थ में अगर देखा जाय तो परमात्मा की जो प्रार्थना करना है, वह केवल अपने आत्मा 'सोऽहं'

की ही सजग साधना करना है।

अब हम सीधे अपने मूल विषय पर आते हैं कि आन्तरिक निर्माण के लिये जो हमारी चेतना में अटूट जागृति पैदा होनी चाहिये और अपार शक्ति का श्रोत फूट पड़ना चाहिये, वह प्रार्थना के बिना नहीं हो सकता।

सन्त तो इनको कहते हैं

●

सन्त कैसा होना चाहिये ? इसका उत्तर श्री आनंदघन जी के शब्दों में यह है—

परिचय पातक घातक साधशुं रे, अकुशल अपचय चेत।

सन्त वह है जो पातक का घातक हो, आत्मा के समस्त पापों को जिसने धो डाला हो। ऐसे सन्त अपने वचन और व्यवहार से दूसरे के पापों का भी नाश कर देता है।

जो आस्रव से निवृत्त हो गया है, अर्थात् जिसने पापों के आगमन के छिद्रों को रुद्ध कर दिया है, जो छल-कपट, दंभ आदि पापों से दूर रहता है, जो एकेन्द्रिय प्राणी के वध में भी आत्मवध मानता है और आत्मा के प्रति अत्यन्त

श्रद्धावान है, जो सृष्टि के समस्त प्राणियों को मित्रभाव से देखता है, लाभ-अलाभ में समभाव रखता है, जो अनासक्ति का मूर्तिमान आदर्श है, सब प्रकार के सांसारिक प्रपंचों से पर और देहाध्यास से भी अतीत है, जो आत्मरमण में ही परमाह्लाद की अनुभूति करता है और जिसके लिये सन्मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, वंदना,तर्जना एक रूप हो गये हैं, वह सच्चा सन्त है ।

वह आकाश की तरह उदार, भूतल की तरह क्षमा-शील, चन्द्र की भांति सौम्य, सूर्य की भांति तपस्तेज से दीप्त, अग्नि के समान जगत की अपावनता को भस्म करनें वाला और वायु की भांति सतत परिव्रजनशील होता है । उसकी अमृतमयी एक ही दृष्टि भव्य मनुष्य के अन्तर् में व्याप्त वासना विष को नष्ट कर देती है ।

ऐसा सन्त अपनी कलुषता का विनाश तो करता ही है, अपनी संगति में आने वाले जिज्ञासु साधकों के भी पापों का अन्त कर देता है ।

संसार में ऐसे संतों का आगमन आज विरल है और जो पुण्यवान उनके समागम से अपना कल्याण कर लेते हैं, वे धन्य हैं, अतिशय धन्य हैं ।

अन्य दृष्टि-बिंदुओं पर भी विचार करो

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है तथा उसका मस्तिष्क ही उसे सारे प्राणी समाज में एक विशिष्ट व उच्च स्थान प्रदान करता है। मनुष्य सोचता है स्वयं ही और स्वतंत्रता-पूर्वक भी, अतः उसका परिणाम स्पष्ट है कि विचारों की विभिन्न दृष्टियां संसार में जन्म लेती हैं। एक ही वस्तु के स्वरूप पर भी विभिन्न लोग अपनी-अपनी अलग-अलग दृष्टियों से सोचना शुरू करते है। यहां तक तो विचारों का क्रम ठीक रूप में चलता है। किन्तु उससे आगे क्या होता है कि एक ही वस्तु को विभिन्न दृष्टियों में सोचकर उसके स्वरूप को समन्वित करने की ओर वे नहीं झुकते। जिसने एक वस्तु की जिस विशिष्ट दृष्टि को सोचा है, वह उसे ही वस्तु का सर्वांग स्वरूप घोषित कर अपना ही महत्व प्रदर्शित करना चाहता है। फल यह होता है कि एकांतिक दृष्टिकोण व हठधर्मिता का वातावरण मजबूत होने लगता है और वे ही विचार जो सत्यज्ञान की ओर बन सकते थे, पारस्परिक समन्वय के अभाव में विद्वेषपूर्ण संघर्ष के जटिल कारणों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। सो हम देखते हैं कि एकांगी सत्य को लेकर जगत के विभिन्न विचारक व मतवादी उसे ही पूर्ण सत्य का नाम देकर संघर्ष को प्रचारित करने में जुट पड़ते हैं। ऐसी परिस्थिति में स्याद्वाद का सिद्धान्त उन्हें बताना चाहता है कि सत्य के टुकड़ों को पकड़कर उन्हे ही आपस में टकराओ नही, बल्कि उन्हे तरकीब से जोड़कर पूर्ण सत्य के दर्शन की ओर सामूहिक रूप से जुट पड़ो। अगर विचारों को जोड़कर देखने की

वृत्ति पैदा नहीं होती व एकांगी सत्य के साथ ही हठ को वांध दिया जाता है तो यही नतीजा होगा कि वह एकांगी सत्य भी न रहकर मिथ्या में बदल जायगा। क्योंकि दूसरे सत्य को न समझने का हठ करना सत्य का नकारा करना है। अतः यह आवश्यक है कि अपने दृष्टिविन्दु को सत्य समझते हुए भी अन्य दृष्टि विन्दुओं पर उदारतापूर्वक मनन किया जाय तथा उनमें रहे हुए सत्य को जोड़कर वस्तु के स्वरूप को व्यापक दृष्टियों से देखने की कोशिश की जाय। यही जगत के वैचारिक संघर्ष को मिटाकर उन विचारों को आदर्श सिद्धान्तों का जनक वनाने की सुन्दर राह है।

नवीनता का अर्थ

कल्याण मार्ग की ओर आगे बढ़ने से ही जीवन में नवीनता का उद्भव हो सकता है। क्योंकि जागतिक विकृतियों में फंस कर आत्मा अत्यधिक जीर्ण-सी बन गई है। उसमें नवीनता लाने के लिये शास्त्रीय सनातन व सत्यरूपी जीवनौषधि की आवश्यकता है। जहां जीवन में सम्यग् गति नही वहाँ वैचारिकता नहीं, तो वैसा जीवन, जीवन नहीं उसे मृत्यु का दूसरा नाम कह सकते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि नवीनता के प्रति आकर्षण-

वृत्ति मनुष्य के हृदय में संलग्न क्यों है ? जीवन में इस वृत्ति से क्या कोई लाभ भी है ?

यह वृत्ति इस बात की परिचायिका है कि शुद्ध आत्मज्योति आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बनती है, जिससे मनुष्य स्वयं सोचता है, जानता है, सीखता है और स्व-पर के लिये वस्तुत: कार्य क्षेत्र निर्धारित कर सकता है। मनुष्य इसी पवित्र शक्तिस्रोत के बल पर अपना स्वतन्त्र मस्तिष्क, स्वतन्त्र व्यक्तित्व के शुद्ध आचरण की अनुभूतियों द्वारा जीवन-निर्माण कर सकता है।

अत: जो नियमोपनियम सिद्धान्त को पुष्ट बनाने वाले हों, शुद्ध-संयमी जीवन की उपयोगिता के लिये समाज व व्यक्ति में जीवन का सन्देश फूंकने वाले हों, वे बहुत वर्षों के बने हुए होने पर भी नवीन समझना चाहिये।

इस नवीनता की स्फुरणा सर्वप्रथम व्यक्ति को निज के जीवन के लिये ग्रहण करनी चाहिये और नवीनता के अनुभूत रहस्य को दूसरों पर प्रकट करना चाहिये, तभी नवीनता का पूर्ण प्रभाव व्यापक रूप से प्रसारित हो सकता है।

समय तेजी से बदलता और बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में बुद्धिमता इसी में है कि सही नवीनता—आत्म-ज्योति के महत्त्व को हृदयंगम करके आज का मानव सही प्रगतिशीलता की ओर गति करने में पीछे न रहे।

महावीर का स्वाधीनता-सन्देश

महावीर ने जो कहा, पहले उसे किया और इसीलिए उनकी वाणी में कर्मठता का ओज व भावना का उद्रेक दोनों हैं। हिंसा के नग्न तांडव से सन्तप्त एवं शोषण व अत्याचार से उत्पीड़ित जनता को दुःखों से मुक्त करने के लिये भगवान महावीर ने स्वयं अहिंसा धर्म की प्रव्रज्या लेकर अहिंसा की क्रांतिकारी तथा सुखकारी आवाज उठाई। स्वार्थोन्मत्त नर-पिशाचों को प्रेम, सहानुभूति, शांति एवं सत्याग्रह के द्वारा उन्होंने स्वाधीनता का दिव्य-पथ प्रदर्शित किया।

माया-संग्रह रूप पिशाचनी के कराल जाल में फंसे हुए मानवों को उन्होंने पथभ्रष्ट विलासिता के दल-दल से निकाल कर निर्ग्रन्थ अपरिग्रहवाद का आदर्श वताया। उन्होंने स्वयं महलों के ऐश्वर्य व राजसुख का त्याग कर निर्ग्रन्थ साधुत्व को वरण किया तथा अपने सजीव आदर्श से स्पष्ट किया कि भौतिक पदार्थों के इच्छापूर्ण त्याग से ही आत्मिक सुख का स्रोत फूट सकेगा। क्योंकि ग्रन्थि (ममता) को ही उन्होंने समस्त दुःखों का मूल माना, चाहे वह ग्रन्थि जड़, द्रव्य-परिग्रह में हो, कुटुम्ब, परिवार में हो या काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मनोविकारों में हो—यह ग्रन्थि ही कष्टों का सृजन करती है। इसीलिए महावीर ने दृढ़ता से आह्वान किया—

''पुरिसा, अत्ताण मेव अभिणिगिज्ज एवं दुक्खा पमोक्खसि।''

हे पुरुषों ! आत्मा को विषयों (कामवासनाओं) की ओर जाने से रोको, क्योंकि इसी से तुम दुःखमुक्ति पा सकोगे।

समस्त जैनदर्शन महावीर की इसी पूर्ण स्वाधीनता की उत्कृष्ट भावना पर आधारित है। परिग्रह के ममत्व को काटकर संग्रहवृत्ति का जब त्याग किया जाएगा तभी कोई पूर्ण अहिंसक और स्वाधीन बन सकता है। ऐसी पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना ही जैनधर्म का मूलभूत ध्येय है। स्वाधीनता ही आत्मा का स्वधर्म अथवा निजी स्वरूप है। मोह, मिथ्यात्व एवं अज्ञान के वशीभूत होकर आत्मा अपने मूल स्वभाव को विस्मृत कर देती है और इसीलिए वह दासता की शृंखलाओं में जकड़ जाती है।

स्वाधीनता का सही अर्थ

आत्मा की पूर्ण स्वाधीनता का अर्थ है—सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों एवं भौतिक जगत से सम्बन्ध विच्छेद करना। अंतिम श्रेणी में शरीर भी उनके लिए एक बेड़ी है, क्योंकि वह अन्य आत्माओं के साथ एकत्व प्राप्त कराने में बाधक है। पूर्ण स्वाधीनता की इच्छा रखने वाला विश्वहित के लिए अपनी देह का भी त्याग कर देता है। वह विश्व के जीवन

को ही अपना मानता है; सबके सुख-दुःख में ही स्वयं के सुख-दुःख का अनुभव करता है, व्यापक चेतना में जिनकी चेतना को सजो देता है। एक शब्द में कहा जा सकता है कि वह अपनी व्यष्टि को समष्टि में विलीन कर देता है। वह आज की तरह अपने अधिकारों के लिए रोता नही, वह कार्य करना जानता है और कर्तव्यों के कठोर पथ पर कदम बढ़ाता हुआ चलता जाता है।

फल की कामना से कोई कार्य मत करो, अपना कर्त्तव्य जान कर करो, तब उस निष्काम कर्म में एक आत्मिक आनन्द होगा और उसी कर्म का सम्पूर्ण समाज पर विशुद्ध एव स्वस्थ प्रभाव पड़ सकेगा। कामनापूर्ण कर्म दूसरों के हृदय में विश्वास पैदा नही करता, क्योंकि उसमें स्वार्थ की गंध होती है और सिर्फ स्वार्थ, परार्थ का घातक होता है। स्वार्थ छोड़ने से परार्थ की भावना पैदा होती है और तभी आत्मिक भाव जागता है। इसी पथ पर आगे बढो, ताकि आत्म-विकास की सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सके। इसीलिए बंधुओं, प्रतिज्ञा कीजिए कि आप सर्वोच्च स्वाधीनता की अन्तिम सीमा तक गति करते ही रहेगे।

स्वतंत्रता का सन्देश

स्वतन्त्रता ही मानव-जीवन का चरम उद्देश है।

जो स्वतन्त्र हो जाता है, वही विजेता है, क्योंकि विजय का परिणाम ही स्वतन्त्रता के रूप में प्रकट होता है और जहां विजय है, वहां पराजितों का झुकना और वैभव-सम्पन्नता अवश्यम्भावी है।

आज 'स्वतन्त्रता' शब्द का हमने बहुत ही संकुचित अर्थ मान रखा है। स्वतन्त्रता की पूर्णोज्ज्वल ज्योति जहां चमकती है, वह स्थान है आत्मिक स्वतन्त्रता का। जब तक मनुष्य निज की मनोवृत्तियों को नही समझ पाता और उनकी सही प्रगति-दिशा का निर्धारण नही कर सकता वहां आत्मा का पतन है और आत्मा के गिरने पर कभी भी सच्ची और पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती।

पूर्ण स्वतन्त्रता की राह पर आगे बढ़ने के लिये यह आवश्यक है कि हम सुख और दुःख के रहस्य को समझें। यह सुनिश्चित तथ्य है कि संसार का प्रत्येक प्राणी सुख की कामना करता है और दुःख से व्याकुल होता है। इसी प्रवृत्ति के कारण प्रत्येक प्राणी अपने समस्त प्रयासों को भी इसी दिशा में नियोजित करना चाहता है कि उसे उनसे सुख ही सुख प्राप्त हो। परन्तु फिर भी यदि हम चारों ओर दृष्टिपात करे तो विदित होगा कि संसार के बहु-संख्यक प्राणी दुःखी हैं अतः जब भी विचार करें यही सनातन प्रश्न मुंह बाये सामने खड़ा रहता है कि संसार में इतना दुःख क्यों है ?

सुख और दुःख का अनुभव विशेषरूप से मनुष्य के हृदयनिर्माण पर निर्भर करता है। दुःख में मनुष्य यदि

सही रूप से सोचे तो विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेता है ।

इस सिलसिले में आधारभूत सिद्धान्त यह है कि सुख और दुःख की काल्पनिक अनुभूति के परे ही आत्मानन्द का निवास है एवं जब आत्मानन्द का संचार होता है, तभी पूर्ण स्वतन्त्रता की मजिल का चमकता हुआ सिरा दिखाई देता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब आत्मा सदैव आनंद ही आनन्द में रमण करेगी तो उसमें अपने विकारों, अपनी वासनाओं से लड़ने की एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न हो जायगी और उस शक्ति के सहारे ही आत्मा के शत्रुओं को झुका दिया जा सकेगा । दासता की काली छाया हटेगी तथा मानस में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रकाश फैलेगा । वही प्रकाश विजेता का साम्राज्य होता है और वही प्रकाश उसकी वैभवसम्पन्नता है जो उसे त्रिभुवन का स्वामित्व प्रदान करता है । वन्धुओं ! इसी प्रकाश को पाने के लिए हमें सुख और दु.ख के वास्तविक रहस्य को समझकर अपने जीवनपथ का निर्माण करना चाहिये ।

स्वतन्त्रता का आशय

प्रधान साध्य सत्य का साक्षाकार करना है, जिसमें

प्रकाश में जीवन का कण-कण आलोकित होकर चरम विकास को प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए जैनदर्शन के सभी सिद्धान्त साधन रूप वन कर उक्त साध्य की ओर गमनशील वनाते हैं। इसमें भौतिनवादी दृष्टिकोण को प्रमुखता न देकर आध्यात्मिकता को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है। क्योंकि समस्त प्राणी समूह की सेवा के लिये यह अनिवार्य है कि सांसारिक प्रलोभनो को छोड़ कर आत्मवृत्तियों का शुद्धिकरण किया जाये, जिसके विना इस अनवरत संघर्षशील जगत के बीच स्व—पर कल्याण सम्पादित नही किया जा सकता। संक्षेप में जैनदर्शन विश्वशांति के साथ—साथ व्यक्तिशांति का भी मार्ग प्रशस्त करता है।

यदि इस सिद्धान्त को विभिन्न क्षेत्रों में रहे हुए संसार के विचारक समझने की चेष्टा करें तो कोई सन्देह नहीं कि वे अपनी संघर्षात्मक प्रवृत्ति को छोड़कर एक-दूसरे के विचारों को उदारतापूर्वक समझकर उसका शान्तिपूर्ण समन्वय करने की ओर आगे बढ़ सकेगे।

विश्वशांति का प्रश्न धर्म, सभ्यता व संस्कृति के विकास तथा समस्त प्राणियों के हित का प्रश्न है। कोई भी व्यक्ति चाहे किसी भी क्षेत्र में कार्य कर रहा हो, इस प्रश्न से अवश्य ही सम्बन्धित है। इस प्रश्न की सही सुलझन पर ही मानवता की वास्तविक प्रगति का मूल्यांकन किया जा सकता है और विश्वशांति की नीव को मजबूत करने का आज की परिस्थितियों में सबसे प्रमुख यही उपाय है, कि चारों ओर फैला हुआ विचारों का विषैला विभेद शांत किया जाये।

पर्यूषण : स्वाधीनता का महापर्व

स्वाधीनता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्वाधीनता है—आध्यात्मिक स्वाधीनता। हम वस्तुतः आत्मा हैं, अतएव आत्मिक दृष्टि से अगर हमें स्वाधीनता प्राप्त हो तो ही हम पूर्ण स्वाधीन कहला सकते हैं।

स्वतंत्र का अर्थ है अपने पर आप ही शासन करने वाला। जिस पर किसी दूसरे का शासन न हो, वही वास्तव में स्वतन्त्र है। अगर आपके शरीर पर, बुद्धि पर और मन पर पूरी तरह आपका ही शासन है और इन्हें आप अपनी इच्छा के अनुसार संचालित कर सकते हैं तो आप स्वतन्त्र हैं अन्यथा नहीं।

अगर आपने स्वाधीनता के मर्म को समझा है, धर्म के स्वरूप को जाना है तो आपका जीवन विराट होना चाहिये।

जिस देश की प्रजा अपने लोकोत्तर एवं लौकिक धर्म का श्रद्धा के साथ पालन करती है, राग-द्वेष का त्याग करके प्रीतिभाव रखती है। वही स्वाधीनता का चिरकाल पर्यन्त उपयोग कर सकती है। वही स्वाधीनता साकार होती है। यही कल्याण का मार्ग है। यही परमात्म-प्राप्ति का मार्ग है। जो इस मार्ग पर चलेगा, उसका कल्याण होगा।

प्रकाश का सन्देश

●

दीपमालिका ! अमावस के अन्धकार को चीर कर झिलमिलाते हुए अगणित दीपक मानो यह सन्देश देते है कि घनी विपदाओं और निराशाओं के बीच भी साहस व त्याग के ऐसे दीपक जलाओ कि आत्म विकास का पथ प्रकाशमय हो जाये ।

दीपमालिका ! अपने नन्हें-नन्हें दीपों की ज्योति से उस प्रकाश की झलक दिखाती है, जिसका विस्तार प्रेम, अहिंसा, सेवा और त्याग के विकास पथ पर फैला रहता है । वह प्रकाश की झलक जिसका अनुकरण करती हुई आत्म-लक्ष्मी का पदार्पण होता है । ये दीप उस प्रकाश के प्रतीक कहे जायें जो प्रकाश अन्तरात्मा से उत्पन्न होता है और घनीभूत होता हुआ एक दिन परमात्मरूप में परिवर्तित हो जाता है ।

दीपमालिका के इन दीपों की ज्योतियों में आत्म-विजय की लक्ष्मी मुस्कराया करती है, दीपकों के अन्तर में निहारो, ज्योति में गहराई से प्रवेश करो तो दिखाई देगा कि पतन और अन्धकार के समुन्दरी तूफान में जीवन-नौका को विकास का मार्ग दिखाने वाले अन्तर्दृष्टि के ऐसे दीप आत्मा के लिए प्रकाशस्तम्भ का काम कर रहे हैं ।

अतः दीपमालिका का पहला आयोजन होना चाहिए—जीवन की स्वच्छता और सजावट का । भावनामय जगत इस प्रकार स्वच्छ व सम्यक् प्रकारेण सुसज्जित हो कि मानसिक

विकारों के विनाश के साथ-साथ सद्विचारों का निर्माण भी हो। इसमे सफल बनने के लिए निर्लेपता तथा शुद्ध, कठोर कर्मटता की अधिक आवश्यकता होती है।

तमसो मा ज्योतिर्गमय

आज दीपमालिका है। अमावस के अन्धकार को चीरकर झिलमिलाते हुए अगणित दीपक मानो यह सन्देश देते है कि घनी विपदाओं और निराशाओं के वीच साहस व त्याग के ऐसे दीपक जलाओ कि आत्म-विकास का पथ प्रकाशमय हो जाय।

यह ठीक है कि दीपकों की माला से बाह्य प्रकाश तो होता ही है किन्तु इन छोटे-छोटे मिट्टी के लघु-दीपों को अन्तर्जगत् का प्रतीक मानकर आत्मक्षेत्र को ज्योतित करना चाहो तो इस दीपमालिका के पर्व का सच्चे दिल से भावा-नात्मक स्वरूप पहचानने का प्रयास किया जाना चाहिए।

दीपमालिका अपने नन्हे-नन्हे दीपों की ज्योति से उस प्रकाश की झलक दिखाती है, जिसका विस्तार प्रेम, अहिंसा, सेवा और त्याग के विकास-पथ पर फैला रहता है। वह प्रकाश की झलक—जिसका अनुसरण करती हुई आत्म-लक्ष्मी का पदार्पण होता है। इस पर्व की ऐतिहासिक आधार-

शिला भी बताती है कि ये दीप उस ज्योति से जल रहे हैं, जिसके लिये विश्व की महान् विभूतियों ने अपने आदर्शों का स्नेहदान दिया है—नया प्रकाश फैलाया है।

अतः दीपमालिका का पहला आयोजन होना चाहिए–जीवन की स्वच्छता और सजावट का। आपका भावनामय जगत इस प्रकार स्वच्छ व सम्यक्प्रकारेण सुसज्जित हो कि मानसिक विकारों के विनाश के साथ-साथ सद्विचारों का निर्माण भी हो। तदनन्तर आपके वचन और आपके कार्य शुद्धिकृत व नवसज्जायुक्त मन के अनुरूप ढलने लगेंगे। इस तरह के व्यक्तिगत जीवन के निर्माण का प्रभाव होगा कि उस पवित्र सम्पर्क से समाज में भी उस वातावरण की रचना हो सके–– ऐसी प्रेरणा मिलेगी। जितना बाहरी स्वच्छता और सजावट का कार्य आसान है, उतना ही आंतरिक एवं सामाजिक स्वच्छता व सजावट का कार्य कठिन है। अतः इसमें सफल बनने के लिए निर्लेपता तथा शुद्ध, कठोर कर्मठता की अधिक आवश्यकता होती है।

अतः आज के पर्व-दिवस का कर्तव्य है कि इन लघु-दीपों की पृष्ठभूमि के महापुरुषों के दिव्य-चरित्र का पुनीत स्मरण किया जाय और इस मंगलपर्व के जागृत-सन्देश को इस रूप में हृदयंगम करने का शुभ प्रयास किया जाय कि जिस तरह उन विश्वविभूतियों से त्याग, सच्चा प्रेम और सेवा के पथ पर चलकर अपनी अडिग अकर्मण्यता का परिचय दिया और निज के साथ-साथ जगत् के जीवन को प्रकाशित किया, उसी तरह आप भी सत्कर्मठ कर्मण्यता का व्रत लें और अपनी समस्त सत्शक्तियां लगाकर निज के एवं

समाज और धर्म के क्षेत्र में प्रगतिशील तथा प्रकाशमान नवीनता का संचार करे।

जीवन का बसन्त

जीवन में ऊँचा-से-ऊँचा विकास संभव है और कोई भी लक्ष्य असभव नही हैं। जीवन के ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर जब कोई पथिक पग बढ़ाता है और उस समय भयंकर प्रतिकूलताएं अगर उसके कदमों को डगमगा दे तो वह स्थिति परिस्थितियो की दासता के रूप में देखी जायगी। जीवन में सफलता उस पथिक को मिलती है जो मजबूत कदम बढाता हुआ हर प्रतिकूल परिस्थिति को संभव बनाता हुआ आत्म-विकास के लक्ष्य की ओर अग्रसर होत चला जाता है। ऐसी ही अवस्था में जीवन का बसन्त खिलता है, जिसके पत्र-पल्लवों की हरितिमा आत्म-सुख की अनुभूति देती है, पुष्पों का मधुरिम सौरभ आचार एवं विचार-वैभव को सुवासित बना देती और वासन्ती बहार त्याग की भावनाओं को उभार देती है।

जीवन में प्रस्फुटित होने वाले 'ऐसे नव-बसन्त का अभिनन्दन करने के लिये आपको अपने सामाजिक जीवन की भी कायापलट करनी पड़ेगी तब मिथ्या और आत्म-

घातक सामाजिक रूढ़ियों का दाह-संस्कार इसलिये जरूरी आप महसूस करेंगे कि ऐसी मनोवृतियां सदैव प्रगतिपथ का अवरोध करती हैं। आप चाहे की अधोगति में ले जाने वाले सड़े-गले कुसंस्कारों, मिथ्या रीति-रिवाजों एवं खतरनाक अन्ध-विश्वासों को भी अपने दैनिक जीवन से चिपकाये रखो और जीवन में बसन्त के आगमन का भी आह्वान करो—तो ये परस्पर विरोधी बाते एक साथ कैसे चल सकती हैं ? अभिमान, ईर्ष्या, द्वेष व ऐसे सभी मनोविकारों को अपनी प्रकृति से विदा देने पर ही वात्सल्य, प्रेम, नम्रता विश्वबन्धुत्त्व तथा स्व-स्वरूपरमण एवं अन्य नवीन सद्‌गुणो के अतिथि आपके जीवनरूपी प्रांगण में प्रवेश कर सकते हैं। इनका प्रवेश आत्मा को बसन्तश्री से सुसज्जित कर देगा।

प्रकृति पतझड़ में जब सूखे पत्तों को नीचे गिरा देती है तभी बसन्त खिलता है। अतः आपके समाज में हो या साधु समाज में— विकृतियों की सूखी पत्तियों को झाड़ना ही पड़ेगा। एकता और सही विकास की कड़ी में बंध जाने के लिये अहितकर दांभिक प्रवृत्तियों को त्यागना पड़ेगा।

जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा

●

जो कर्म में शौर्य प्रदर्शित करेंगे, वे ही तो आखिर

धर्म के विराट क्षेत्र में भी साहस और सजगता के साथ आगे बढ़ सकेंगे। जहां शौर्यत्व का ही अभाव है, वहां तो ऐसे लोगों की किसी भी क्षेत्र में अपेक्षा नहीं की जा सकती। कर्म शक्ति से भागने वाला संसार के अपने पुनीत व नैतिक कर्तव्यों से सहज ही स्खलित हो जाने वाला, धर्म की दुनिया में भी स्थिर चित्त कैसे बना रह सकता है ?

कोरी कल्पनायें व वाणीविलास किसी भी क्षेत्र में कार्य की संपन्नता में सफल नही हो सकता। कार्य की सफलता जिस तत्त्व की तह में निहित है, वह है पुरुषार्थ और उसे जगाये बिना न व्यक्ति जाग सकता है और न समाज, बल्कि अन्तर्तम का विकास भी इसके बिना साधा नही जा सकता।

पुरुषार्थ के लिये कठिनतम कार्य भी असंभव नही होते और जहां असंभावना की विचारधारा ही नही, वहां रुकना और गिरना कैसा ? वहां तो निरतर बढ़ते रहना है और बीच में आने वाली आपदाओं से सफलतापूवक लडते-भिड़ते रहना है। इसी पुरुपार्थ के प्रबल आवेग में नेपोलियन ने ललकार कर कहा था कि असंभव शव्द सिर्फ मूर्खो के कोष में होता है और उसने किसी अपेक्षा से बिल्कुल ठीक कहा था। अनन्तशक्ति-सम्पन्न आत्मा के लिये महान से महान कार्य सपादन भी कतई असंभव नही। पौरुष के आगे हमेशा राह होती है।

कार्यशक्ति कभी असफल नही होती— यह एक तथ्य है, किन्तु फिर भी लोगों में विपरीत वृत्ति देखी जाती है कि वे सुख और आनन्द तो चाहते हैं, मगर काम से घब-

राते हैं, आलस्य की शरण में अधिक जाते हैं। इस तरह उन्हें सफलता नहीं मिलती, क्योंकि बिना सतत प्रयासों के वह सभव नही।

कर्म के शूर ही धर्म में भी शूर सिद्ध होते हैं, क्योंकि बिना शौर्य व पुरुपार्थ के धर्माराधना भी कहां ? प्रमादी व्यक्ति तो कहीं भी सफल नही हो सकता। भगवान महावीर ने इसीलिये स्पष्ट कहा है कि 'समयं गोयम, मा पमाएए' अर्थात् हे गौतम ! समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत कर ! छोटा-से-छोटा क्षण भी जहां मनुष्य आलस्य से रंग देता है वहां उसमें उसके जरिये कुछ-न-कुछ बुराई घुस ही जाती है।

नवीनता के अनुगामियों से

❁

जो नियमोपनियम सिद्धान्त को पुष्ट बनाने वाले हों, शुद्ध-संयमी जीवन की उपयोगिता के लिये समाज व व्यक्ति में जीवन का संदेश फूंकने वाले हों, वे बहुत वर्षों के बने हुए होने पर भी नवीन ही समझना चाहिये। किन्तु विवेक एवं आत्म-ज्योति को भुलाने वाले नवीनता के नाम पर विकारी भाव व स्वार्थ के पोषक नैतिक भावहीन सुन्दर शब्दों में नवीन बने हुए कितने ही नियमोपनियम हों वे

प्राचीन शब्द से कहे जाने चाहिए। उन शब्दों में समय का मापदंड ठीक नही हो सकता, किन्तु सयमी जीवन को उपयोगिता का मुख्य महत्त्व होता है।

इस दृष्टि से तत्त्वों का चयन किया जाना चाहिये। न कि आज के किन्ही जोशीले नवयुवकों की तरह कि पुरानी सब चीजे त्याज्य हैं। सभ्यता से पिछड़ी हुई हैं, और नई सभ्यता की सारी चीजे ज्यो की त्यो अपनाने योग्य है। मैं उन नवयुवको को भी कहना चाहूंगा कि दृढाग्रह अलग चीज है और विवेकपूर्ण समझना अलग बात है एवं मेरा खयाल है सही समझ के लिये प्राचीन एवं नवीन का जो ऊपर मापदड बताया गया है, वह सभी दृष्टियों से काफी समुचित जान पड़ेगा।

इस नवीनता की स्फुरणा सर्वप्रथम व्यक्ति को निज के जीवन के लिये ग्रहण करना चाहिये और नवीनता के अनुभूत रहस्य को दूसरों पर प्रगट करना चाहिये, तभी नवीनता का पूर्ण प्रभाव व्यापक रूप से प्रसारित हो सकता है। किन्तु होता क्या है कि कई सुधारक दूसरों के जीवन मे सुधारमय नवीनता लाने के लिए बड़ा जोर लगाते हैं और अपने जीवन का खयाल कम रखते हैं। व्यक्ति अपने जीवन में कुछ भी न उतार कर दूसरों से कुछ कहे, यह एक प्रभावहीन तरीका है।

जानो और करो

यह साधारण विवेक की बात है कि हम कोई कार्य निष्प्रयोजन नही करते। एक स्थान से उठकर दो घर भी कहीं जाना होता है तो पहले हम सोचते हैं कि यह हमें किसलिये करना है। करने से पहले जो पूर्व विचारणा है वही ज्ञान है और इसके प्रकाश में ही हमारा करना सफल हो सकता है। पहले योजना बनाना और फिर उसका अमल करना ही सफलता की कुंजी है। आत्मोत्थान के लिए या किसी कार्य के लिये विना ज्ञानयुक्त क्रिया के कोई लाभ नही। न अंधे की तरह इधर-उधर भटकने से कोई प्रयोजन हल हो सकता है, न आंखों की रोशनी लेकर एक जगह बैठ जाने से। किसी स्थान पर पहुंचना तो तभी हो सकता है कि आंखें खोलकर ठीक रास्ते पर आगे बढ़ते जाये। इसके लिये पहले ज्ञान का प्रकाश होना चाहिये ताकि उस उजाले में मार्ग ठीक-ठीक दिखाई दे और ठीक उसी के लक्ष्यानुसार आगे बढा जा सके। 'जानो और करो' का सिद्धान्त ही आनन्द प्रदान कर सकता है।

कतिपय भाई स्वार्थवशात भोली जनता में शास्त्र विरुद्ध भ्रमणा फैलाने के लिये ज्ञान और क्रिया के संयुक्त महत्त्व पर आघात करते है और धर्म एवं पुण्य की असंबद्ध व्याख्याओं का निर्माण करते है। भले ही इस प्रकार की व्याख्याओं से पहले भोली जनता को भ्रमित करने में सफलता मिल जाये लेकिन वास्तविक उत्थान चाहने वाले जब इन सिद्धांतों के विषय में गंभीरता से सोचेगे तो उन्हे निश्चय

ही सत्य के धरातल पर आना पड़ेगा ।

सही बात यही है

समाज की गति पारस्परिकता पर निर्भर होती है और जब यही मानवीय वृत्ति व्यापक होकर समाज के विशाल आंगन में चारों ओर प्रसारित हो जायेगी, तो फिर सभी नागरिक अपने पारस्परिक व्यवहारों में इस प्रवृत्ति के अनुसार कार्यरत होंगे । इसका निश्चय ही यह फल होगा कि कष्टों का उद्भव ही खत्म होने लगेगा । एक दु:ख नही देगा और दूसरे भी दुःख नहीं देगे । इस तरह ही पहले को कभी दुःख का सामना नही होगा ।

इसलिये यह स्पष्ट रूप से समझा जाना चाहिये कि दु:ख दूर करने का यही प्रधान मार्ग है कि हम पहले किसी को दु:ख देना छोड़ दे, क्योंकि सामाजिक रचनात्मक कार्य का प्रारभ भी व्यक्ति से ही संभव हो सकेगा, अगर प्रत्येक व्यक्ति पहले प्रारम्भ की अपेक्षा दूसरे से ही करता रहे तो सामाजिक कार्यों का संपादन दुष्कर क्या असम्भव ही हो सकेगा । अत: सबसे पहले हम लोग यह संकल्प करे कि हम किसी को कभी किसी तरह की पीड़ा नही पहुंचायेंगे, कभी किसी को हम से कोई कष्ट हो जायगा तो उसके लिये

प्रायश्चित्त करेंगे तथा सबकी भविष्य में सुखप्राप्ति की निरंतर कामना करते रहेंगे। इस प्रकार की भावना हृदय के सारे कलुष को धोकर उसे दर्पणवत चमकाकर प्रकाशित कर देगी।

इसलिए क्या तो राजनीति में व क्या अन्य सभी मानवीय नीतियों में स्वार्थ-त्याग की धर्ममय नीति के प्रवेश कराने की आवश्यकता है। जहां हृदयों में संकुचितता है, वहां सुखों का द्वार नहीं खुलता। सुखों के लिये तो हृदयों की उदारता का त्याग के आधार पर अधिक-से-अधिक विस्तार होना चाहिये।

गोपनीयता का परिणाम

●

गोपनीयता सदैव सत्य-विरोधिनी होती है क्योंकि सच्चाई और छिपावट का कोई मेल नही। जो बात सत्य है उसे छिपाने की कोई आवश्यकता नहीं और जिस किसी बात को छिपाने की कोशिश की जाती है, उसमें कहीं-न-कहीं झूठ की बू अवश्य मिलेगी।

गोपनीयता से मिथ्यावाद बढता है और उससे कुटि-लता एव कुटिलता से दुष्कृत्यों की एक बाढ़-सी आ जाती है। गोपनीयता की नीव पर अधर्म का महल बन जाता

है, जो व्यक्ति के शुद्ध आत्म-तत्वों को अपने नीचे गाड़े रखता है।

चूंकि गोपनीयता सत्य-विरोधनी होती है, इसलिए वह अहिंसा की भी विरोधिनी होती है। प्रवंचना का परि-णाम प्रतिहिसा अधिकतर होता ही है। क्योंकि उस व्यक्ति को रोष आना व रोष को रोक न पाना मानवीय कमजोरी के अनुसार संभव है।

बुराई-से-बुराई ही पैदा हो सकती है और उसकी पैदाइश की परम्परा इस तरह चल पड़ती है कि अगणित बुराइयों के टेढ़े-मेढे चक्रव्यूह से बाहर निकलना दुस्वार-सा हो जाता है। एक बुराई को छिपाने के लिए न जाने कितनी और बुराइयों का आसरा लिया जाता है। छिपाई गई बुराई हमेशा भयंकर परिणाम लेकर ही खुलती हैं।

अतः सरलता और सच्चाई का सीधा रास्ता ही यह है कि पहले अकेली बुराई को ही रहस्य बनाकर छिपाये रखने की कोशिश न की जाये तथा विनम्र भाव से उस बुराई को प्रमुख अपने गुरु अथवा अपने वडील के समक्ष क्षमावनत होकर सबके सामने प्रगट कर दी जाये तो अगली बुराइयों की जड़ें ही कट जाती है।

अतः कैसा भी क्षेत्र हो, नीति पर बनें रहने के लिए सबसे अधिक सरल उपाय यह है कि छिपाने की मनोवृत्ति ही न हो। तभी सत्यपथ पर आत्म-कल्याण साधा जा सकेगा।

विकट समस्या : सरल समाधान

●

आज साधारणजन के समक्ष बड़ी विकट समस्या है कि उसका जीवन कैसा हो ? किस प्रकार आवश्यक जीवनोपयोगी पदार्थों को सरलता से उपलब्ध कर वह अपने जीवन को शांतिमय, नीतिमय और धर्ममय बना सके ? वस्तुस्थिति यह है कि आज अशांति एव असंतोष के बादल मंडरा रहे है, जिन्होंने जीवन के सुखरूपी सूर्य को ढक लिया है ।

तो प्रश्न उठता है कि आखिर सुख क्या है ? इसका उत्तर अति गंभीरता से विचारने का विषय है । सुख का निवास किसी पदार्थ विशेष व स्थिति विशेष में नही है । वह तो अन्तर् की प्रगाढ अनुभूति में ही प्राप्त किया जा सकता है । बाह्य पदार्थो के समागम से उपलब्ध होने वाला सुख केवल सुखाभास है तथा वह भी क्षणिक है । लेकिन वर्तमान युग में दुनिया की दौड़ बाह्य पदार्थो में ही सुख खोजने में हो रही है ।

किन्तु यह एक नग्न सत्य है कि जब तक जीवन को त्याग की ओर नही मोड़ा जायगा, मानव-जीवन में शाति एव सुख का सचार होना कठिन है ।

जिन-जिन व्यक्तियों ने त्याग का मार्ग अपनाया है, वे ही जनता के श्रद्धेय हो सके हैं, महापुरुष बन सके है । महावीर को ही ले लीजिये, वे इसलिये विश्वविभूति नही बने कि वे राजपुत्र थे, विशाल वैभव व ऐश्वर्य के धनी थे,

वल्कि इसलिये कि उपलब्ध होने पर भी उन्होंने उस सारे विशाल वैभव को निर्ममत्व रूप से त्याग कर प्राणीकल्याणार्थ अपना समग्र जीवन साधना में समर्पित कर दिया। हजारों वर्ष बीत जाने पर भी ऐसे महापुरुषों की स्मृतियां भुलाई नही जा सकती। उनके दिव्य सन्देश जनहृदय में सदैव गुंजायमान होते रहते हैं, उनमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

त्याग की भावना और त्याग की प्रवृत्ति अपना दुहरा असर डालती है। एक ओर तो इसका असर त्याग-कर्त्ता के निज के जीवन पर पड़ता ही है दूसरी ओर इस वृत्ति का प्रभाव समूची समाज-व्यवस्था पर भी पड़ता है।

व्यक्ति का त्याग समाज में फैलता है, उसके वैभव का विकेन्द्रीकरण होता है विषमता घटती है और ऐसी स्थिति सामाजिक न्याय एवम् धार्मिक भावना को प्रोत्साहन देती है। समाज में उस त्याग के आधार पर एक नया वातावरण भी फैलता है।

सर्व दुःखों की औषधि

मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी आत्म-शक्ति को ही प्रज्जवलित करे, अपने आपको अधिकाधिक शिथिल न वनाता जावे; क्योंकि आत्मा ही आत्मा का वन्धु और

आत्मा ही आत्मा का शत्रु है अर्थात् अपने उत्थान-पतन का कारण अपना ही आत्मा है। यह सन्देश आज कितनी प्रेरणा देता हुआ प्रतीत होता है। जहां हम आत्म-शक्ति की आलोचना और दृढ़ता पर डट जाते है, तब हमारे अन्दर एक विशेष प्रकार का तेज अद्‌भुत होता है और उस तेज के समक्ष अन्याय की बुनियाद पर टिकी हुई दुनिया की कोई शक्ति ठहर नहीं सकती।

अतः शोषण-विरोध के किन्हीं साधनों का आश्रय लेने से पहिले यह सोच लिया जाय कि शोषण का मूल कारण शोषित की मरी हुई आत्माएं है और जब तक उनमें जीवन नही डाला जायगा, शोषण का स्थायी अन्त कदापि नहीं हो सकता। यदि हिंसात्मक साधनों या अन्य ऐसे ही हीन व अशुद्ध साधनों से शोषण को समाप्त करने की चेष्टा की गई तो हानि के अतिरिक्त उसमें कुछ भी प्राप्त नहीं होगा; क्योंकि यह खतरे भरा रास्ता है। और माना कि इसमें एक बार सफलता मिल गई, फिर भी शोषण किसी-न-किसी दूसरे रूप में आकर अपना वैसा ही आधिपत्य जमा लेगा।

अभिप्राय यह है कि आज इस भौतिकवादी सड़ान से ऊपर उठने की नितान्त आवश्यकता है, जिसके आधार पर महान विग्रह मचे हुए हैं और यह समझने की जरूरत है कि हमारा स्वयं का आत्मा प्रकाशमान है और आनंद का मधुर स्रोत है। बाहरी जो सुख हैं, वे केवल हमारी आत्ममूर्छा को ही बढ़ाते हैं और हमें पतन की राह पर ढ़केलते हैं। वास्तविक आनन्द तो इन्द्रियों के क्षेत्र से परे रहता है। आनन्द करने वाला तथा विशेष जिज्ञासु होने

के कारण ज्ञान प्राप्ति में आनन्द लेने वाला आत्मा है और उसी का आनन्द समय और वस्तु के प्रभाव से रहित है। जब आत्मा इसी आनन्द की शोध में तल्लीन होता है, तभी सच्ची शान्ति का अनुभव कर सकता है।

यदि इसको समझ लें !

संसार में सुख की अविरल धारा प्रवाहित करने के लिए यह ध्रुव मार्ग है कि अगर तुम्हें दुःख नहीं चाहिए तो अपनी ओर से भी किसी को दुःख न दो, किन्तु सुख दो।

इस विचारणा को अगर गम्भीरतापूर्वक समझने की चेष्टा की जाय तो आत्म-स्वरूप के समीप पहुंचा जा सकता है। उस समय ऐसी अनुभूति होगी कि अपने दुःखों के लिए दूसरों को दोष देना व्यर्थ है। अगर हम ही अपनी प्रवृत्तियों को सीमित व वृत्तियों को संयमित रखें अर्थात् अपनी ही आत्मा को निकट से समझें व कर्त्तव्यपथ पर चलावें तो दुःखों की सृष्टि ही नहीं होगी, बल्कि निजत्व को विसर्जन कर देने से स्वर्गीय भावों के साथ अमिट सुख का अनुभव होने लगेगा।

वैसे समझने में यह सिद्धान्त बड़ा सरल प्रतीत होता है कि दुःख न दो, दुःख नहीं होंगे; किन्तु अगर आज के

अशांन्त व हिंसात्रस्त विश्व में व्यक्ति व राष्ट्र सही तौरपर इसे आचरण में लाना प्रारम्भ कर दें तो निश्चय समझिये कि शक्ति एवं सुख के नये वातावरण की सुन्दर रचना की जा सकती है। क्योंकि आज की सामाजिक व राजनीतिक अवस्था का मूल ही यह है कि दूसरों के दुःखों पर कुछ लोगों के सुखों का संसार बसाया जाता है, जिसका आखिरी परिणाम सबके दुःख के सिवाय कुछ नही निकलता।

ऐसी ही कुछ स्थिति आज विभिन्न राष्ट्रों के बीच भी बनी हुई दिखाई देती है। जो शक्तिशाली राष्ट्र है, वे किसी भी तरह कमजोर राष्ट्रों को अपने कब्जे में करना चाहते है।

वर्तमान राष्ट्र अगर दुःखवाद के इस रहस्य को समझ जावें और उनके शासक अपनी नीतियाँ सहृदयता व ईमानदारी से बरतने लगें तो कोई कारण नही कि युद्धों को न रोका जा सके तथा विश्वशांति की बुनियाद मजबूत न बनाई जा सके।

अनमोल मानव-जीवन

●

यही वह जीवन है, जहां संसार
कती हुई आत्मा अपने उत्थान के लिए

और विकारों को काट कर चरम विकास को भी प्राप्त कर सकती है। चूंकि विकास का विवेक और प्रयासों की सफलता इस जीवन में चोटी तक पहुंच सकती है, मानव-जीवन की सबसे बड़ी विशिष्टता है। इसलिए यह दुर्लभ है कि जहां मनुष्य को अपनी प्रगति दिशा का संकेत मिलता है, अन्तिम विकास तक को पालेने की शक्ति मिलती है।

मानव-जीवन की भौतिक शक्तियों के पा लेने में विशेषता नही है, पाकर उन्हें निस्पृहभाव से त्याग देने में उसकी परम विशेषता रही हुई है। दशवैकालिक सूत्र (अध्याय २, गाथा ३) में कहा है--

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वई।
साहीण चयई भोए, सेहु चाई त्ति बुच्चई॥

अर्थात् जो सुन्दर भोगोपभोग के पदार्थो को प्राप्त करके भी उन्हे आत्मोन्नति हेतु त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है। धनसग्रह जहां दुःख-क्लेश का मूल है, वहां उसी धन को निस्पृह भाव से त्याग करने में महान् आत्मिक आनन्द का निवास है। फिर भी इस शाश्वत सिद्धान्त से विमुख होकर जो क्षणिक सुखाभास के दलदल में अपने आपको फंसा कर मानव-जीवन को पतित बनाता है, वह त्यागी भर्तृहरि के शब्दों में "तिल की खल को पकाने के लिए अमूल्य रत्नों के पात्र का उपयोग करने वाले, आक की खेती के लिए कपूर की खेती को नष्ट करने वाले व्यक्ति की तरह" अपने आपको वज्रमूर्ख ही सिद्ध करता है। इस जीवन में आत्मोत्थान के सभी संयोग उप-

अशांन्त व हिंसात्रस्त विश्व में व्यक्ति व राष्ट्र सही तौरपर इसे आचरण में लाना प्रारम्भ कर दें तो निश्चय समझिये कि शक्ति एवं सुख के नये वातावरण की सुन्दर रचना की जा सकती है। क्योंकि आज की सामाजिक व राजनीतिक अवस्था का मूल ही यह है कि दूसरों के दुःखों पर कुछ लोगों के सुखों का ससार वसाया जाता है, जिसका आखिरी परिणाम सबके दुःख के सिवाय कुछ नही निकलता।

ऐसी ही कुछ स्थिति आज विभिन्न राष्ट्रों के वीच भी बनी हुई दिखाई देती है। जो शक्तिशाली राष्ट्र है, वे किसी भी तरह कमजोर राष्ट्रों को अपने कब्जे में करना चाहते है।

वर्तमान राष्ट्र अगर दुःखवाद के इस रहस्य को समझ जावे और उनके शासक अपनी नीतियाँ सहृदयता व ईमानदारी से बरतने लगें तो कोई कारण नही कि युद्धों को न रोका जा सके तथा विश्वशांति की बुनियाद मजबूत न बनाई जा सके।

अनमोल मानव-जीवन

●

यही वह जीवन है, जहां संसार के गतिचक्र में भटकती हुई आत्मा अपने उत्थान के लिए संघर्ष कर सकती है

और विकारों को काट कर चरम विकास को भी प्राप्त कर सकती है। चूंकि विकास का विवेक और प्रयासों की सफलता इस जीवन में चोटी तक पहुंच सकती है, मानव-जीवन की सबसे बडी विशिष्टता है। इसलिए यह दुर्लभ है कि जहां मनुष्य को अपनी प्रगति दिशा का संकेत मिलता है, अन्तिम विकास तक को पालेने की शक्ति मिलती है।

मानव-जीवन की भौतिक शक्तियों के पा लेने में विशेषता नही है, पाकर उन्हें निस्पृहभाव से त्याग देने में उसकी परम विशेषता रही हुई है। दशवैकालिक सूत्र (अध्याय २, गाथा ३) में कहा है--

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वई।
साहीण चयई भोए, सेहु चाई त्ति वुच्चई॥

अर्थात् जो सुन्दर भोगोपभोग के पदार्थों को प्राप्त करके भी उन्हे आत्मोन्नति हेतु त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है। धनसग्रह जहां दु.ख-क्लेश का मूल है, वहां उसी धन को निस्पृह भाव से त्याग करने में महान् आत्मिक आनन्द का निवास है। फिर भी इस शाश्वत सिद्धान्त से विमुख होकर जो क्षणिक सुखाभास के दलदल में अपने आपको फंसा कर मानव-जीवन को पतित है, वह त्यागी भर्तृहरि के शब्दों में "तिल की पकाने के लिए अमूल्य रत्नों के पात्र का नप वाले, आक की खेती के लिए कपूर की ने वाले व्यक्ति की तरह" अपने आपको करता है। इस जीवन में आत्मोत्थान

अशांन्त व हिंसात्रस्त विश्व में व्यक्ति व राष्ट्र सही तौरपर इसे आचरण में लाना प्रारम्भ कर दे, तो निश्चय समझिये कि शक्ति एव सुख के नये वातावरण की सुन्दर रचना की जा सकती है। क्योंकि आज की सामाजिक व राजनीतिक अवस्था का मूल ही यह है कि दूसरों के दु:खों पर कुछ लोगों के सुखों का ससार बसाया जाता है, जिसका आखिरी परिणाम सबके दु:ख के सिवाय कुछ नही निकलता।

ऐसी ही कुछ स्थिति आज विभिन्न राष्ट्रों के बीच भी बनी हुई दिखाई देती है। जो शक्तिशाली राष्ट्र है, वे किसी भी तरह कमजोर राष्ट्रों को अपने कब्जे में करना चाहते है।

वर्तमान राष्ट्र अगर दु:खवाद के इस रहस्य को समझ जावें और उनके शासक अपनी नीतियॉ सहृदयता व ईमानदारी से बरतने लगे तो कोई कारण नही कि युद्धों को न रोका जा सके तथा विश्वशांति की बुनियाद मजबूत न बनाई जा सके।

अनमोल मानव-जीवन

●

यही वह जीवन है, जहां संसार के गतिचक्र में भटकती हुई आत्मा अपने उत्थान के लिए संघर्ष कर सकती है

और विकारों को काट कर चरम विकास को भी प्राप्त कर सकती है। चूंकि विकास का विवेक और प्रयासों की सफलता इस जीवन में चोटी तक पहुंच सकती है, मानव-जीवन की सबसे बड़ी विशिष्टता है। इसलिए यह दुर्लभ है कि जहां मनुष्य को अपनी प्रगति दिशा का संकेत मिलता है, अन्तिम विकास तक को पालेने की शक्ति मिलती है।

मानव-जीवन की भौतिक शक्तियों के पा लेने में विशेषता नहीं है, पाकर उन्हें निस्पृहभाव से त्याग देने में उसकी परम विशेषता रही हुई है। दशवैकालिक सूत्र (अध्याय २, गाथा ३) मे कहा है--

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वई।
साहीण चयई भोए, सेहु चाई त्ति वुच्चई॥

अर्थात् जो सुन्दर भोगोपभोग के पदार्थों को प्राप्त करके भी उन्हे आत्मोन्नति हेतु त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है। धनसग्रह जहां दुःख-क्लेश का मूल है, वहां उसी धन को निस्पृह भाव से त्याग करने में महान् आत्मिक आनन्द का निवास है। फिर भी इस शाश्वत सिद्धान्त से विमुख होकर जो क्षणिक सुखाभास के दलदल मे अपने आपको फंसा कर मानव-जीवन को पतित बनाता है, वह त्यागी भर्तृहरि के शब्दों में "तिल की खल को पकाने के लिए अमूल्य रत्नों के पात्र का उपयोग करने वाले, आक की खेती के लिए कपूर की खेती को नष्ट करने वाले व्यक्ति की तरह" अपने आपको वज्रमूर्ख ही सिद्ध करता है। इस जीवन में आत्मोत्थान के सभी संयोग उप-

लब्ध होने पर भी उनकी ओर ध्यान न देकर धन-लिप्सा व मिथ्या व्यामोहों में फंस जाना अपनी ही आत्मा के साथ भीषण विश्वासघात करना और मानव-जीवन की अनुपम विशिष्टता को व्यर्थ ही में खो देना है।

आज का संसार, जो केवल भौतिक पदार्थों की प्राप्ति में ही सुख के अस्तित्व और मानव-जीवन की सफलता मानता है, वह अवश्य ही मिथ्या-भ्रमणा में है और इस तरह मानव-जीवन की यथार्थ महत्ता नष्ट हो रही है। मानव-जीवन और जगत का विशाल धरातल मानव को सच्चे सुख की अनुभूति उसी समय करा सकेंगे, जब धर्म के मर्म को समझ कर जीवन की दिशा विशुद्ध धर्माचरण की ओर मोड़ी जायगी।

समझ लो ! परख लो !!

●

विवेकशील व्यक्ति सुख और दुःख दोनों में तटस्थ वृत्ति रखते है, वे जानते है कि शुभ कर्मो के उदय से सुख और अशुभ कर्मो के उदय से दुःख प्राप्त होता है तथा कर्म-बधन का कारण उसका ही निज का आत्मा है, अतः निज के किये हुए कर्मो का फल शात भाव से ही सहन करना चाहिए। यह विचारणा ही मनुष्य के जीवन को

संतुलित बनाये रख सकती है अन्यथा जीवन अत्यन्त ही विश्रृंखल व विषम अवस्था वाला हो जाएगा ।

सुख और दुःख का अनुभव विशेष रूप से मनुष्य के हृदय निर्माण पर निर्भर करता है । दुःख में मनुष्य यदि सही रूप मे सोचे तो विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेता है । किसी कवि ने कहा भी है—

दुःख है ज्ञान की खान ········ मानव ।

शात बुद्धि और दृढ़ भावना के आधार पर दुःख से नई-नई शिक्षाये मिलती हैं और यहां तक कि वे शिक्षायें इतनी अमिट रूप से अकित हो जाती हैं कि भावी-जीवन के विकास-हित वे वरदान रूप सिद्ध होती हैं । अधिकांशत: सुख और दुःख की अनुभूतियां चित्त के विशिष्ट मनोभावों के कारण ही होती है । एक ही स्थिति व वस्तु में सुख व दुःख का अनुभव किया जा सकता है । यह तो अनुभव करने वाले पर निर्भर है कि वह चित्त को किस प्रकार से संतुलित रखता है ?

इस सिलसिले में आधारभूत सिद्धान्त यह है कि सुख और दुःख की काल्पनिक अनुभूति के परे ही आत्मानन्द का निवास है एवं जब आत्मानन्द का संचार होता है तभी पूर्ण स्वतन्त्रता की मजिल का चमकता हुआ सिरा दिखाई देता है।

बंधुओं ! इसी प्रकाश को पाने के लिए हमें सुख और दुःख के वास्तविक रहस्य को समझ कर अपने जीवन-पथ का निर्माण करना चाहिए ।

भले ही देर हो किन्तु....

●

झूठ सदा डरने वाला होता है, क्योंकि रहस्य खुल जाने के भय की तलवार हमेशा उसके सिर पर लटका करती है। झूठ की हमेशा रक्षा करते रहने के लिए मनुष्य कुटिलता का सहारा लेता है और उसके सहारे से वह धोखेबाजी और विश्वासघात में सफल बनता देखा जा सकता है।

परन्तु इस सारी परिस्थिति के साथ यह नग्न सत्य भी मजबूती से जुड़ा हुआ है कि असत्य-अधर्म का भंडा फूटता है। लाख तौर-तरीकों से छिपाई हुई बात भी एक दिन बिना प्रगट हुए नहीं रहती दिखाई देती है। यह अवश्य है कि इस कुटिलता में जो कुशल हुआ तो उस छिपावट की मियाद भले ही बढ जाती है लेकिन मियाद तो मियाद ही ठहरी, एक दिन तो खतम हो जाने वाली है।

इस स्पष्टीकरण के पश्चात भी कोई यह शका व्यक्त कर सकता है कि माना बुराई छिपती नहीं और आखिरकार प्रकट होकर ही रहती है किन्तु प्रत्यक्ष तो इस दुनिया में सच्चे आदमी को हर जगह निराश होकर ठोकरें खानी पड़ती है।

ऐसी शका करने वालों की कठिनाई को समझा जा सकता है। क्योंकि आज विपरीत वृत्तियों की बाढ़ वर्तमान जागतिक वातावरण में कुछ ऐसी आई है कि झूठे और अवसरवादी बिना कुछ किये अच्छे लाभ (भौतिक) उठा

लेते है और सच्चे एवं सेवाभावी व्यक्ति कुटिल प्रपंचों में फसा दिये जाकर दुःखी बना दिये जाते हैं। परन्तु इस स्थिति के होते हुये भी यह तथ्य हृदय में दृढ़तापूर्वक बिठा दिया जाना चाहिये कि सत्य वह ज्योति है जो कभी भी, किसी के द्वारा, किसी भी दशा में, किन्ही भी उपायों से बुझाई नही जा सकती। ससार उस प्रकाश के समक्ष नतमस्तक होता हुआ हर युग में देखा गया है।

शांति का निवासस्थान

●

शांति जीवन-विकास के लिए एक प्रमुख आवश्यकता है और जब तक किसी भी प्रकार से हम हमारे हृदय व मस्तिष्क में शांति के सचार का प्रयास नही करेगे, आपत्तियों के तूफान में पडकर कभी हम आत्मोन्नति की ओर ध्यान दे ही नही सकेगे। सच्ची शान्ति के लिए विकृत मनोविकारो का आवरण हटाना होगा, राग-द्वेष, मोह-माया, तृष्णा-स्वार्थ आदि रागात्मक वृत्तियो का त्याग करके हृदय को अधिकाधिक उदार व विशाल बनाना होगा। जो श्री महापुरुष शांति की परम स्थिति को पहुंचे हैं उनके स्पष्ट अनुभव है कि ज्यों-ज्यो मनुष्य निजी स्वार्थों को भूलकर परहित मे अपने स्वार्थों को विसर्जित करता चला जाता है, त्यों-त्यो वह शान्ति की मंजिल के समीप पहुंचता है।

इसके साथ ही अपने ही स्वार्थ में निरत रहने पर जीवना-काश को अशांति के बादल ही घेरे रहते है । इस रहस्य में आत्मा की मूल प्रवृत्ति का प्रदर्शन हमें मिलता है । आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है और इसलिए ऐसे कार्य संपादित करने में उसे आनन्द व शांति की प्राप्ति होती है, जो उसके नीचे गिराये रहने वाले भार को हल्का करते है । अपने दृष्टिकोण से दूसरों के लिए सोचना—यह संकुचित मनो-वृत्ति आत्मा को पतन की राह पर नीचे ढकेलने वाली होती है । चाहे इस दृष्टिकोण में प्रत्यक्ष सुख दिखाई देता सकता है, किन्तु वह केवल सुखाभास होगा। दूसरों के दृष्टि-कोण से अपने को भी सोचना—यह हृदय की विशालता का लक्षण है और चूकि इसमें किभी भी प्रकार की विकृति की छाप नही होती, आत्मा को आन्तरिक सुख व स्थायी शांति प्रदान करती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आन्तरिक स्थायी शांति का निवास स्वार्थ-त्याग तथा आत्म-बलिदान में ही रहा हुआ है ।

अनिवार्य आवश्यकता

●

धर्म की दिशा में आगे बढ़ने का सबसे पहला और

सबसे ऊंचा साधन है कि अन्तःकरण को निर्मल एवं शुद्ध बनाकर धर्म के लिये समुचित धरातल का निर्माण किया जाय। धर्म की दिशा को समझकर उसके अनु ूल धरातल का निर्माण नही करना और धर्माराधना का प्रयास करना अयोग्यता का सबूत देना है। धर्म की दिशा में आगे बढ़ने से पूर्व यह सोचा जाना परम आवश्यक है कि मैं इस दिशा में बढने की भावना रखता हूं या नही।

अन्त.करण की शुद्धि के लिये मनुष्य को अपने अन्तरतम में झांकना होगा, अपनी आलोचना स्वय करनी होगी और देखना होगा कि वह अपने विकारों को किस प्रकार नष्ट करके पवित्रता के स्वरूप को पहचान पायगा ? उसे परखना होगा कि उसने धर्म के आह्वान के लिये योग्य भूमिका की रचना कर ली है। इस हेतु उसे अपने हृदय की विशुद्धता के विविध उपायों पर दृष्टिपात करना होगा।

धर्म के धरातल का निर्माण अन्त.करण की शुद्धि पर आधारित होना चाहिये जिसके साधन हैं— आत्मलाघवता, विनम्रता, निष्कामवृत्ति आदि। जब तक मनुष्य अपने भीतर सहज विनम्रता व लाघवता का अनुभव नही करता, वह स्पष्ट रूप से तब तक अपने दोषों को नही पहचान सकता है; आत्म-प्रवचना उसे भुलावा देती रहेगी। जब धर्म हमारे विशुद्ध मूल स्वभाव की मार्मिकता को पाने के लिये दोष रहित हृदय में निष्काम वृत्ति का प्रवेश होना चाहिए। कामनाओं से मुंह मोडना ही एक तरह से विषमय सांसारिकता को छोड़ना है और आत्मोत्थान के मार्ग पर आगे बढ़ना है।

इस दृष्टिबिन्दु से जब वर्तमान समाज की परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि आज के धार्मिक व पुण्य कृत्यों में अधिकतर कीर्ति-लिप्सा की दुर्गन्ध है। अपना नाम कमाने के लिए लोग लाखों की संपत्ति भी दे देंगे, चाहे उसका सदुपयोग हो अथवा नहीं। किन्तु जहां सच्ची आवश्यकता है, पर नाम कमाने का सुअवसर नहीं, तो कम ही उदाहरण सामने आते हैं।

नवीनता के अनुगामियों से

●

वास्तविक कल्याणमार्ग की ओर आगे बढने से ही जीवन में नवीनता का उद्भव हो सकता है, क्योंकि जागतिक विकृतियों मे फंसकर आत्मा अत्यधिक जीर्ण-सी बन गई है। उसमें नवीनता लाने के लिये शास्त्रीय सनातन व सत्यरूपी जीवनौषधि की आवश्यकता है। इस अवसर को हाथ से न जाने दें। तो क्या आप इस चेतावनी से सचेत होकर आगे बढने के लिये तैयार है? सांसारिकता में निरंतर डोलते हुए चंचलचित्त को नियंत्रित करके विकास के लक्ष्य की ओर स्थिर करने के लिये क्या उद्यत है? क्योंकि आपकी इस प्रकार की तैयारी ही नवीनता की तरफ गति करने का लक्षण होगी।

प्रचलित परिपाटियों में इधर-उधर से जो विकार आ जाते हैं उनको हटाने और चेतना जागृत करने के लिये मूल स्थिति के रक्षणपूर्वक जो भी विवेक सहित परिवर्तन लाये जाते है उन्हें भी नवीनता की संज्ञा दी जा सकती है। इन अर्थों में नवीनता का यह अभिप्राय होना चाहिये कि जो परिवर्तन और एकरूपता को संतुलित रखती हुई मनुष्य की सही जिज्ञासावृत्ति को सतुष्ट करती है और उसे सत्य-लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होने में जागृत रखती है । ऐसी सच्ची नवीनता है और उसके अनुगामी जीवन के सही प्रगतिमार्ग को निष्कटक बनाते है ।

यदि मनुष्य ने हृदय के अपवित्र विचारों को नही छोडा, अपने आपको स्थिरचित्त बनाकर जीवन के महत्त्व को नही समझा और सही कर्तव्याकर्तव्य का भी भान नही रखा तो उसके लिये केवल भौतिकवादी नवीनता निस्सार ही सिद्ध होगी ।

नवीनता के अनुगामियों में जीवन-विकास की ऐसी एकनिष्टा होनी चाहिये कि ससार के कोई भी प्रलोभन उनके लिये अग्राह्य हो ।

अत इस अवसर पर निष्कर्ष रूप में मै यही कहना चाहता हूं कि आप सच्चे त्यागमय जीवन की जागृति करें ताकि जीवन को सच्चे अर्थों मे सफल बना सके। व्यावहारिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन दोनों का सम्यक् सतुलन और सही अर्थों में समन्वय जीवन में स्थापित कर आत्मीय सर्वांगीण विकास कर सके। आध्यात्मिक जीवन की आधार-

शिला शुद्ध व्यावहारिक जीवन पर टिकी हुई है– 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' । अतः व्यावहारिक जीवन में भी सत्य-नवीनता फूकना उतना ही आवश्यक है ।

आत्म दर्शन का साधन

●

देह और आत्मा का अभेद समझने की मूढ़दृष्टि जब तक विद्यमान रहती है तब तक बहिरात्म दशा बनी रहती है । यह घोर अज्ञान का परिणाम है । सर्वप्रथम आत्मा के पृथक अस्तित्व को समझना आवश्यक है । अन्त-रात्मा बनने के लिये आपको मानना चाहिये कि देह अलग है और मैं अलग हूं । देह के नाश में मेरा नाश नहीं है । देह की दुर्बलता मेरी दुर्बलता नहीं है । देह पुद्गलों का परिणमन है और इस कारण क्षण-क्षण में परिवर्तनशील है, नाशवान है । मैं अविनाशी हूं, अनन्त हूं, अक्षय हूं, अनन्त आनन्द और चैतन्य का आगार हूं ।

अन्तरात्म दशा प्राप्त होने पर जीव के विचार और व्यवहार में बडा अन्तर आ जाता है । यह नाशशील दुःख के बीज और आत्मा को मलिन बनाने वाले सांसा-रिक सुख की अभिलाषा नहीं करता, उसमें आसक्त नहीं होता । अन्तरात्मा-जीव का विवेक जब परिपक्व होता है

तो उसे सासारिक सुख से अरुचि हो जाती है। तव आत्मा अपने ही स्वरूप में रमण करने लगती है। दिव्यज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और दिव्यशक्ति प्रकट होने पर जो आनन्द मिलता है, वही ज्ञानानन्द है। इस ज्ञानानन्द में मग्न रहने वाला आत्मा समस्त उपाधियों से विमुख हो जाता है।

उस अवस्था को इन शब्दों में व्यक्त कर सकते है—

वह परम आत्मा अनन्त सुख से संपन्न, ज्ञानरूपी अमृत का स्रोत, अनन्तशक्ति से समन्वित है, उसमें किसी प्रकार का विकार नही है, उसके लिये किसी आधार की आवश्यकता नही है, वह समस्त पर पदार्थो के ससर्ग से रहित है और विशुद्ध चैतन्य स्वरूपी है।

आत्मा का समर्पण करने से आत्मा की उपलब्धि होनी है, उसका स्वरूप अधिकाधिक निर्मल रूप से समझ में आने लगता है।

नवीनता और प्राचीनता का भाष्य

●

प्रचलित परिपाटियों में इधर-उधर से जो विकार आ जाते है, उनको हटाने और चेतना जागृत करने के

लिए मूल स्थिति के रक्षणपूर्वक जो भी विवेक सहित परिवर्तन लाये जाते है, उन्हे भी नवीनता की सज्ञा दी जा सकती है। इन अर्थो में नवीनता का यह अभिप्राय होना चाहिए कि जो परिवर्तन और एकरूपता को संतुलित रखती हुई मनुष्य की सही जिज्ञासावृत्ति को सतुष्ट करती है और उसे सत्य लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होने में जागृत रखती है। उसके अनुगामी जीवन के सही प्रगति मार्ग को निष्कंटक बनाते हैं।

जो नियमोपनियम सिद्धान्त को पुष्ट बनाने वाले हों, शुद्ध-संयमी जीवन की उपयोगिता के लिए समाज व व्यक्ति में जीवन का सन्देश फूंकने वाले हों वे बहुत वर्षो के बने हुए होने पर भी नवीन ही समझना चाहिए। किन्तु विवेक एवं आत्म-ज्योति को भुलाने वाले नवीनता के नाम पर विकारी भाव व स्वार्थ के पोषक, नैतिक भावहीन सुन्दर शब्दों में नवीन बने हुए कितने भी नियमोपनियम हों, वे प्राचीन शब्द से कहे जाने चाहिए। इन शब्दों मे समय का मापदड ठीक नही हो सकता, किन्तु संयमीजीवन की उपयोगिता का मुख्य महत्त्व होता है।

इस नवीनता की स्फुरणा सर्वप्रथम व्यक्ति को निज के जीवन के लिए ग्रहण करना चाहिए और नवीनता के अनुभूत रहस्य को दूसरों पर प्रगट करना चाहिए तभी नवीनता का पूर्ण प्रभाव व्यापक रूप से प्रसारित हो सकता है।